क्या यज्ञ करना पाप है ?

श्रीगौरीशङ्कर गोयनका

क्या यज्ञ करना पाप है ?

लेखक

श्रीगौरीशङ्कर गोयनका

संपादक

पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

प्रकाशक

अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय

काशी

प्रकाशक

श्रीकृष्ण पंत

अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय,

काशी।

संवत् २००१

हरिप्रबोधिनि

मूल्य छः आना

मुद्रक

ह० मा० सप्रे,

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

भूमिका

दिल्ली आदि स्थानोंमें यज्ञोंका अनुष्ठान बड़े उत्साह, श्रद्धा और भक्तिसे हुआ, हो रहा है एवं भविष्यमें होगा भी। वीतराग महात्माओं, विद्वानों, सदाचार-सम्पन्न धनिकोंने एकमात्र विश्वकल्याणके लिए ही उनका प्रचार और अनुष्ठान किया। ठीक ही है, ऐसी विकट परिस्थितिमें, जिसका प्रतीकार करना एकमात्र परमात्माके ही अधीन है, ईश्वरोपदिष्ट शास्त्रीय पद्धतिसे परमात्माकी शरण लेनी ही चाहिए। इस बीच आक्षेप-प्रतिक्षेप भी बहुत होते रहे। श्रीघनश्यामदासजी बिड़ला और श्रीगौरीशङ्करजी गोयनकाके पत्रोंके संग्रहात्मक तथा श्रीडा० भगवानदासजी गुप्तके 'शास्त्रवाद' बनाम 'बुद्धिवाद' ग्रन्थकी समालोचनात्मक प्रस्तुत 'क्या यज्ञ करना पाप है', पुस्तकमें सच्चे निर्भीक, धर्मनिरत श्रीगोयनका-जीने बहुत ही उपयुक्त रीतिसे यज्ञकी कर्तव्यता शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की है। गोयनकाजीने अपने जीवनका मुख्य अंश प्राचीन संस्कृतिके जीर्णोद्धारमें लगा दिया है, तन, मन और धनसे अन्यान्य बाह्य व्यापारों-से प्रायः विरत होकर भारतीय प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा करनेवाला श्रीगोयनकाजीके सदृश दूसरा पुरुष इस समय विरल है। दूसरे देशोंमें चाहे जैसा हो, पर भारतमें ऐतिहासिक वीर, धीर वही होता है, जो एकमात्र श्रुति, स्मृति एवं सदाचार की रक्षाके लिए अपने बहुमूल्य जीवनका उत्सर्ग कर देता है।

पाठकवृन्द इस पुस्तकका ध्यानपूर्वक अध्ययन करेंगे, तो उससें अवश्य लाभ होगा। आपके सम्मुख महाभारतके अनुवादपूर्वक कुछ वाक्योंका उद्धरण करता हूँ, जिससे धर्मका स्वरूप भलीभाँति समझनेमें सहायता मिलेगी—

अपने धर्ममें मूढ़ता ही मोह है, अपने धर्ममें स्थिरता ही असली स्थिरता है, धर्मज्ञानी ही पण्डित कहलाता है, तत्त्वार्थज्ञान ही

सम्यक् बोध है, अपने धर्मका अनुष्ठान ही तप है, उसीकी गति होती है, जो धर्मरत रहता है, सनातनधर्म ही अमृत है, श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको देना धर्म है—'मोहो हि धर्ममूढत्वम्', 'स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यम्', 'धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो', 'ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः', 'तपः स्वधर्मवर्तित्वम्', 'यश्च धर्मरतः स गतिं लभते', 'सनातनो धर्मोऽमृतम्', 'धर्मार्थं ब्राह्मणे दानम्'।

विश्वकी अशान्तिके हेतु पापादि अनर्थोंकी यज्ञोंसे निवृत्ति होती है, इस विषयमें महाभारतके निम्नलिखित श्लोक प्रमाणरूपेण मिलते हैं—

"शृणु तत्र यथा पापमपकृष्येत भारत।
तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर॥
यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप।
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः॥
असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम्।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद्यज्ञाः परायणम्।
यज्ञैरेव महात्मनो बभूवुरधिकाः सुराः।"

श्रीगोयनकाजी, श्रीबिड़लाजी तथा श्रीभगवानदासजी गुप्त तीनों का लक्ष्य इस अकिञ्चन भारतका दुःख दूर करना ही है, तीनों नररत्न हैं, तथापि धार्मिक जनता, जो आज विषम परिस्थितिमें भी भारतकी प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा कर रही है, एकमात्र श्रीगोयनकाजी जैसे नराग्रणी की स्पृहा रखती है। तटस्थ या संशयग्रस्त लोग उपादेयबुद्धिसे दोनों पुस्तकोंको तुलनात्मक दृष्टिसे देखेंगे तो अनायास उचित और अनुचित पथका परिज्ञान हो जायगा।

मूलशङ्करशास्त्री व्यास

॥ श्रीः ॥

ॐ

क्या यज्ञ करना पाप है ?

[प्रस्तुत यज्ञ विषय लेकर श्रीगौरीशङ्करजी गोयनका और श्रीघनश्यामदासजी बिडलाने स्नेहवश परस्पर पत्र लिखकर कुछ विचार व्यक्त किये हैं, जिन्हें पाठकोंकी जानकारीके लिए उपर्युक्त शीर्षकसे प्रकाशित कर रहे हैं, यज्ञके ऊपर किये गये आक्षेपोंका परिहार करते हुए श्रीगोयनकाजीने श्रीबिडलाजीके प्रति जिस अन्तिम पत्रसे विचार प्रकट किये थे, उसका आरम्भमें प्रकाशन किया जाता है—सं० ।]

गौरीशङ्कर गोयनका
अस्सी, काशी
ता० १२-९-४४

श्रीघनश्यामदासजी बिडला, सादर जय श्रीकृष्ण। ....

देहलीसे प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दुस्तान' नामक पत्रमें एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है 'शास्त्रवाद' बनाम 'बुद्धिवाद' । इसके लेखक हैं — काशीके सुप्रसिद्ध डा० श्रीभगवान्दास गुप्त । मेरी जानकारीके लिए 'हिन्दुस्तान' ने उक्त लेख मेरे पास भेज दिया है। आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पढ़नेसे ज्ञात हुआ कि आपने मेरे और आपके पत्र-व्यवहारके सम्बन्धमें श्रीडा० साहबको 'इस विषयपर जनताके सामने जो समयोचित विचार जान पड़े, उसे रक्खो' ऐसा आदेश दिया है। अतः यह लेख आपका ही है, आपने स्वयं न लिखकर किन्हीं दूसरे सज्जनसे लिखवाया है। श्रीयुत डा० साहब पहले-पहल तो लिखनेमें हिचके, फिर

अपने (श्रीडा० के) उद्देश्यके मुख्य अंशका सहायक जानकर संक्षिप्त निबन्ध लिखनेके लिए प्रस्तुत हुए। डाक्टर ही तो ठहरे, हिन्दू-समाज प्रत्यक्ष-क्षयरोग-ग्रस्त है और उसकी चिकित्सा करने-कराने में लगे हैं। चिकित्सा करते-कराते ४०-४५ वर्ष व्यतीत हो गये, रोगियोंमें कितनेको कितना लाभ पहुँचा, यह तो उनका रजिस्टर देखनेसे ही ज्ञात होगा। किन्तु स्वयं वे प्रत्यक्ष-क्षयरोग-ग्रस्त रोगियोंके सहवाससे चार्वाक-सदृश एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाणके ही उपासक बन गये। उनका यहाँ तक विचार बन गया कि सभी लोग एक स्वरसे प्रत्यक्ष प्रमाणका ही स्वीकार करते हैं। पर प्रत्यक्ष प्रमाणकी सर्वसम्मत परिभाषा श्री डा० साहबने अपने लेखमें कहींपर भी नहीं लिखी। मैं समझता हूँ कि वे कदाचित् मेरें इस लेखके उत्तरमें लिखें। प्रसंगवश उनको मैं याद दिलाता हूँ कि सांख्य-शास्त्रोक्त आठ दोषोंमें से किसी एक दोषसे प्रतिबद्ध होनेपर प्रत्यक्षसे वस्तुकी सत्त्वदशामें भी उपलब्धि नहीं होती—

"अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥"

(सांख्यकारिका ७)

पाठकोंकी जानकारीके लिए मेरा स्पष्टीकरण करना समुचित होगा कि श्रीयुत डा० साहबने जिसको 'शास्त्रवादी' कहा है—वह मैं हूँ और जिस महानुभावको 'बुद्धिवादी' कहा है वह 'श्रीघनश्यामदासजी बिडला' हैं। मेरा और उनका पत्र-व्यवहार चला है। ४ पत्र मेरी ओरसे और ४ ही पत्र उनकी ओरसे आये-गये हैं। (इस लेखके परिशिष्टमें उन पत्रोंका प्रकाशन भी किया जायगा।) श्रीडा० साहबने जो हम दोनोंका

नामकरण किया है, जिसे सिद्ध करनेके लिए कई पृष्ठ उन्हें रंगने पड़े, सचमुच यह वृद्धावस्थामें बड़ा परिश्रम किया है। अपने रचित ग्रन्थोंके सिद्धान्त मस्तकमें टकरानेके कारण उन्होंने हम लोगोंको प्रतिद्वन्द्वी ठहराया और एक दूसरे प्रकारसे अपने सिद्धान्तका प्रचार करनेका उपाय सोचा। श्रीडा० साहबके लेखमें 'शास्त्रवादी' का अर्थ है—बुद्धिशून्य; और बुद्धिवादीका अर्थ है—शास्त्रशून्य। एक विद्वान्‌के लेखमें ऐसी असंगत बात देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है! भला कोई बालक भी यह स्वीकार करेगा कि विना बुद्धिके शास्त्रोंका अध्ययन होता है। ग्रहण-धारणपटु बुद्धिमान् ही अपनी बुद्धिके अनुसार आचार्यके समीप जाकर शास्त्राध्ययन और शास्त्रीय सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ग्रहण कर सकता है—यह सर्वजनसम्मत बात है। शास्त्रोंका अध्ययन, गुरुजनोंकी सेवा, गायत्री आदि मन्त्रोंका अनुष्ठान करनेसे पुरुषोंको सूक्ष्मतत्त्वग्राहिणी सद्बुद्धि उत्पन्न होती है—विकसित होती है और इन उपायोंका परित्याग कर पाश्चात्य शिक्षामात्रसे तथा गुरुजनोंकी सेवाके विना अपने संस्कृत ग्रन्थोंका भी पाश्चात्य भाषा आदिमें हुए अनुवादोंके आधार पर अध्ययन करनेसे प्रत्युत शास्त्रवादीको ही बुद्धि उत्पन्न नहीं होती—

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥"

(भाग० ७।५।३२)

जिनका अध्ययन विधिपूर्वक हुआ है, वे तीक्ष्ण बुद्धिके कारण दुरूह, असली तत्त्वको भी भली प्रकार समझ लेते हैं—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।'

(कठो० ३।१२)

यदि इन्हीं शब्दोंपर विचार चल पड़े तो निबन्ध बहुत बढ़ जायगा। मैं न 'शास्त्रवादी' हूँ और न आपको श्रीडा॰ साहबके लेखानुसार 'बुद्धिवादी' ही समझता हूँ तथा न आपकी और मेरी कोई प्रतिद्वन्द्विता ही है। यदि श्रीडा॰ महोदयको प्रतिद्वन्द्वी बनाये बिना लिखनेमें सौकर्य नहीं था, तो वे हम लोगोंका नवीन नामकरण न कर 'गोयनका' बनाम 'श्रीबिडलाजी' ही लिखते तो अच्छा होता।

श्रीडा॰ साहबने निबन्धका आरम्भ ऐसी भाषामें किया है कि मानो आप निर्णायक हों, सो किस आधारपर? क्या वे अपनेको फैसला देनेवाला मानते हैं? बतलायें। निर्णायक तो वे ही होते हैं जो—

(१) राजाकी ओरसे न्यायाधीश बनाये गये हों।

(२) शास्त्रकी सम्मतिमें निर्णायक हो सकते हों।

(३) दोनों पक्ष जिन्हें निर्णायक स्वीकार करते हों।

पहली बात तो है नहीं। दूसरी वे स्वयं नहीं मानते, क्योंकि शास्त्र-वाद उनका उपेक्षणीय विषय है। तीसरी बात भी नहीं, अतः वे निर्णायक हो ही नहीं सकते। हाँ, आपकी ओरसे आपकी बातको येन-केन प्रकारेण पुष्ट करनेवाले हो सकते हैं।

अब मैं उनकी 'तनकीह' (संशयस्थान) पर विचार करता हूँ। श्रीडा॰ साहबने 'क्या निर्णय करना है' यह पहले सोचकर तदनन्तर संशयस्थान स्थिर किये हैं। उनकी 'तनकीह' पढ़ते ही यह अनायास जाना जा सकता है कि वे आगे क्या लिखेंगे। यदि उन्होंने न्यायाधीशकी हैसियतसे 'तनकीह' की होती, तो इस प्रकार होती—

मुख्य प्रश्न—(१)आचार्यपरम्परासे शास्त्राध्ययनशून्य एक व्यापारी, धनी वैश्य पाप-पुण्यका निर्णायक हो सकता है क्या ? अवान्तर प्रश्न— (२) गीतामें आये हुए 'यज्ञ' शब्दका मुख्य अर्थ क्या है ? (३) शास्त्र क्या हैं और शास्त्रीय सिद्धान्त समझनेके लिए शास्त्रीय-पद्धतिकी आवश्यकता है क्या ? (४) जब लाखों प्राणी इस देशमें अन्नके विना मर रहे हैं, ऐसे समय यज्ञ कर्तव्य हैं क्या ? (५) शास्त्रीय बुद्धि और लौकिक मानवी बुद्धि—ये दो पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं क्या ? यदि पृथक्-पृथक् हैं, तो कौन ग्राह्य है और कौन परिहार्य ? (६) रुद्राभि-षेकमें दुग्धधारासे भगवान् प्रसन्न होंगे अथवा उसी दुग्धको अनाथ बच्चोंको देनेसे ? मेरे और आपके पत्रोंमें इससे अधिक दूसरा कोई विषय विचारणीय नहीं है। अब इन प्रश्नोंपर श्रीडा० साहबकी युक्तियोंको सम्मुख रखते हुए विचार किया जाता है।

श्रीडा० महोदय अपने निबन्धमें 'मानवधर्मसार' का उद्धरण (हवाला) बार-बार देते हैं। उनसे मेरा निवेदन है कि 'सन्मार्ग' (१ म वर्ष अंक २, ३, ४, ५, ६ एवं २ य वर्ष अंक १) में प्रकाशित पूज्यपाद श्री १००८ स्वामी करपात्रीजी महाराजके 'मानवधर्मसार' के खण्डनमें लिखे हुए 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते', 'वेदोंके नाम,' 'धर्म-विवेक' शीर्षक लेख ध्यानसे पढ़ें, उक्त लेखोंसे डा० साहबके हिन्दी 'पुरुषार्थ' का भी खण्डन हो जाता है।

शास्त्र क्या है ? (अवान्तर प्रश्न ३)

श्रीडा० साहबने स्वरचित श्लोकोंका उद्धरण देते हुए शास्त्रोंके परस्पर भेदोंका दिग्दर्शन कराया है। इसमें गीताका 'तस्माच्छास्त्रं

प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' यह वचन भी दिया है। इस सिद्धान्तको मानते हुए भी, निर्णय दूसरे प्रकारसे करना है इसलिए, 'किन्तु किं मे प्रमाणं स्यात् शास्त्राशास्त्रविनिर्णये' यह स्वरचित पंक्ति धर दी है। फिर वही मानवी बुद्धिका राग अलापना शुरु किया—कोई किसी ग्रन्थको शास्त्र मानता है और कोई किसीको। इस प्रसंगमें युधिष्ठिरकी बात अपने अनुकूल समझ कर—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना:
नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

(म० वन० ३१३।११७, चित्रशाला प्रेस, पूना)

—यह श्लोक प्रमाणरूपमें देते हुए 'महाजन' शब्दका अर्थ जनसमूह किया है। परन्तु जनसमूह एकमत नहीं है, यह बात भी स्वयं लिख रहे हैं। [वास्तवमें 'महाजन' शब्दका अर्थ है—श्रुतिस्मृतिमुनि-वचनानुसारी पूर्वज, देखिये 'सन्मार्ग' वर्ष २ अंक० १, पृ० ३२] *।

---

* 'पं श्रीबालगङ्गाधरतिलककृत 'गीतारहस्य' अथवा 'कर्मयोगशास्त्र' में महात्मा तिलकने उपर्युक्त "तर्कोऽप्रतिष्ठः" इत्यादि श्लोकपर विचार किया है। उसका अर्थ करते-करते जब 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस चतुर्थ चरणका अर्थ करने लगे, तब वे लिखते हैं—'इसलिए महाजन जिस मार्गसे गये हों, वही (धर्मका) मार्ग है। ठीक है! परन्तु महाजन किसको कहना चाहिए? उसका अर्थ "बड़ा अथवा बहुत-सा जनसमूह" नहीं हो सकता, क्योंकि जिन साधारण लोगोंके मनमें धर्म-अधर्मकी शंका भी कभी उत्पन्न नहीं होती,

जिनकी बुद्धि शास्त्रोंके परस्पर विरोधी वाक्योंका समन्वय करनेके लिए योग्यता नहीं रखती, फिर जनसमूहके परस्पर विरोधी बुद्धियोंका समन्वय

उनके बतलाये मार्गसे जाना मानो कठोपनिषद्‌में वर्णित 'अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः' वाली नीतिको ही चरितार्थ करना है। अब यदि महाजनका अर्थ 'बड़े-बड़े सदाचारी पुरुष' लिया जाय—और यही अर्थ उक्त श्लोकमें अभिप्रेत है...' (देखिये गी० र० ३ य प्रकरण' पृष्ठ ७१)। इसके आगे म० तिलकने बड़े लोगोंके आचरणोंका किस प्रकार अनुकरण करना चाहिए ? इस विषयपर बड़ी सुन्दर रीतिसे विचार कर निश्चय किया है कि अपनी सामर्थ्यको देखकर उनके जो अच्छे कर्म हों, उन्हींका अनुकरण करो और सब छोड़ दो। उदाहरणार्थ—परशुरामके समान पिताकी आज्ञाका पालन करो, परन्तु माताकी हत्या मत करो, क्योंकि माताको फिर जिलानेकी सामर्थ्य जैसी परशुराम और जमदग्नि में थी, वैसी हम लोगोंमें नहीं हैं, भगवान् रुद्रकी तरह हम विषको नहीं पचा सकते हैं, हनुमान्‌जीकी तरह जन्म लेते ही सूर्यकी तरफ़ नहीं जा सकते', इसलिए "ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाऽऽचरितं क्वचित् (श्रीमद्भाग० १०।३३।३२) और

"अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्॥"

(म० भा० व० १३१ । ११, १२)

" पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च॥
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम्॥"

(मनु० ९।२९९)

अतः अपनी सामर्थ्यपर ध्यान देते हुए बड़े लोगोंके आचरणका अनुकरण करना चाहिए।

कैसे करेगी ? । जनसमूहका विवरण करते-करते श्रीडा० साहबने कई शब्द दिये हैं—'लोकमत', 'भूयसीय' न्यायसे, 'मेजारिटी ओपिनियन', 'कसरत राय' से, आदि, जिनसे केवल स्वकीय पाण्डित्यका प्रकाशन किया गया है। 'कसरतराय' से क्या कर्तव्यका निश्चय हो जाता है ? फिर कसरतराय कैसे जानी जाय ? आज भी पाकिस्तानसम्बन्धी एक तुच्छ प्रश्नपर बड़े-बड़े धुरन्धर नेताओंमें ऐकमत्य है क्या ? इसका निर्णय श्रीडा० साहबकी युक्तियोंसे होना सम्भव है क्या ? आप स्वयं सोचें, जब निर्णय होगा, तब आप्तवाक्यको ही प्रमाण मानकर होगा ।

युद्धमें 'जनरल' आज्ञा देता है, उसका नीचेके अफसर अपनी बुद्धिसे इधर-उधर किये बिना पालन करते हैं। उन आज्ञाओं, संकेतोंको समझनेके लिए नियम भी बने हैं । मनमाने ढंगसे आज्ञाओंको नहीं समझ सकते। जिनको उन नियमोंका परिज्ञान है, वे ही समझ सकते हैं। सिपाही उन आज्ञाओंपर अपनेको न्योछावर कर देता है। एक कांग्रेसी नेता मेरे मित्र थे। मेरे कई प्रश्नोंके उत्तरमें उन्होंने यही कहा कि हमारे 'जनरल' महात्मा गाँधीजी हैं । उनकी आज्ञापर अपनी बुद्धि लगाना हमारा कर्तव्य नहीं है; किन्तु उनकी आज्ञाका पालन कैसे ठीक हो, इसीमें हमारी बुद्धिका उपयोग है । जहाँ काम नहीं चलेगा, फिर उन्हींसे पूछेंगे। यही शब्दप्रमाणका स्वरूप है। 'मानवी बुद्धि' और 'शास्त्रीय बुद्धि' दो पृथक् पदार्थ नहीं हैं। बालबुद्धि—असंस्कृत अपरिनिष्ठित बुद्धि—'मानवी बुद्धि' है, फिर विधिवत् शास्त्राध्ययन, गुरु-सेवा, मन्त्र-जप आदि विविध उपायोंसे संस्कार करने पर वही 'शास्त्रीय बुद्धि' बन जाती है, वही व्यवसायात्मिका बुद्धि है । शास्त्रीय

सिद्धान्तोंको समझनेके लिए जो अव्यभिचरित रीतियाँ—प्रकार—हैं, वे महात्माओं द्वारा कथित हैं। उन्हीं एकमात्र उपदिष्ट प्रकारोंसे समझना होगा, अन्यथा शास्त्रीय सिद्धान्तोंको समझनेकी चेष्टा करनेवाले असली तत्त्व ग्रहण न कर अपने बहुमूल्य समयका दुरुपयोग ही कर डालेंगे, यह निश्चित है। मानवी बुद्धिका अवलम्बन कर कार्य करनेवाले पद-पद पर खतरा उठाते हैं। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि विविध दोष मानवी बुद्धिमें रहते ही हैं। स्वयं श्रीडा० महाशय इस वृद्धावस्थामें भी दुःखी हैं। विना वैराग्यकी उत्पत्ति हुए आरम्भमें विवेकीको क्लेश अवश्य होता है। वैराग्य होते ही जहाँ षट्-सम्पत्तिका आगमन हुआ, वहीं दुःख भाग जाते हैं—

"अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्याऽऽनन्दमयं जगत्।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम्॥"

(वा० उ० २।२२)

"विहाय कामान् यः सर्वान्.........."॥

(३) शास्त्र क्या वस्तु है?

प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणोंसे अज्ञात—ऐहिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसके—उपायोंका उपदेष्टा अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद तथा तन्मूलक और तदविरुद्ध आर्ष इतिहास, पुराण, स्मृति आदि ही शास्त्र हैं। इस विषयमें बृहदारण्यककी निम्नलिखित श्रुति प्रमाणतया उद्धृत की जाती है—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः.........."।

जैसे बिना प्रयत्नके ही जीवमात्र श्वास-प्रश्वास लेते हैं, वैसे ही परमात्माके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या एवं उपनिषद् निःश्वास हैं। निश्चित आनुपूर्वीवाले पूर्वतः विद्यमान वेदोंकी निःश्वासवत् अनायास ही परमात्मासे अभिव्यक्ति है—

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।"

'शास्त्रयोनित्वाधिकरण' में पूज्यपाद भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज 'शास्त्र' शब्दका निर्वचन यों करते हैं—

"महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्याऽनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य" इत्यादि।

इसी भाष्यका विवरण करते हुए 'भामतीकार' श्रीवाचस्पतिमिश्र लिखते हैं—

"चातुर्वर्ण्यस्य चातुराश्रम्यस्य च यथायथं निषेकादिश्मशानान्तासु ब्राह्ममुहूर्तोपक्रमप्रदोषपरिसमापनीयासु नित्यनैमित्तिककाम्यपद्धतिषु च ब्रह्मतत्त्वे च शिष्याणां शासनात् शास्त्रं ऋग्वेदादि।" . . .

शास्त्रीय अगाध महासमुद्रका मथन कर सारभूत तत्त्वका अधिकारी जनोंको समपर्ण करनेवाले प्राणीमात्रके कल्याणकर भगवान् शङ्कराचार्य और श्रीवाचस्पतिमिश्रके उपर्युक्त वाक्य हमारी 'शास्त्र' शब्दकी परिभाषाके पर्याप्त समर्थक हैं। इसी तरह 'शास्त्रविद्' नामसे प्रसिद्ध भगवान् श्रीशबरस्वामीने "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" इत्यादि वाक्यसे भी उपर्युक्त अर्थ ही बतलाया है।

श्रीडा॰ साहब लिखते हैं—"मनुष्य ही शास्त्र बनाते हैं"। परन्तु यह उपर्युक्त प्रमाणोंसे अत्यन्त विरुद्ध है। पुरुषबुद्धिप्रयत्नपूर्वक इनकी

(शास्त्रोंकी) रचना नहीं है, इसी एकमात्र तात्पर्यमें उन प्रमाणोंका पर्यवसान है। श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वतीजी भी अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के सप्तम-समुल्लासमें पृ० १२८ पर 'वेद' विषयका आरम्भ करते हुए अथर्ववेदके काण्ड १०, प्रपाठक २३, अनुवाक ४, मन्त्र २० का उद्धरण देते हैं—

"यस्माद्दचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥"

इसीकी भाषा करते हुए वें स्वयं लिखते हैं—'जिस परमात्मासे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं, वह कौन-सा देव है?—इसका उत्तर—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वही परमात्मा है।' इसीके आगे "स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (यजु०, अ० ४०,मं० ८) इस श्रुतिका श्रीस्वामीजी अर्थ करते हैं--'जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजाके कल्याणार्थ यथावद्-रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओंका उपदेश करता है। इसके बाद उन्होंने बहुतसे प्रश्न किये हैं; जैसे—निराकार परमेश्वर बिना मुख कैसे वेदविद्याका उपदेश करता है ?, किनके आत्मामें कब वेदोंका प्रकाश किया ?, ब्रह्माजीके हृदयमें वेदोंका उपदेश किया तो फिर अग्न्यादि ऋषियोंकी आत्मामें क्यों कहा ?, ब्रह्मा बड़ा पक्षपाती होता है क्या ?, किसी देशभाषामें वेदोंका प्रकाश न करके संस्कृतमें क्यों किया ?, वेद ईश्वरकृत हैं—इसमें क्या प्रमाण ?, ऋषिलोग संस्कृत भाषा नहीं जानते थे, फिर उन्होंने वेदोंका अर्थ कैसे जाना ? इत्यादि। ऐसे और भी बहुतसे प्रश्न कर तथा उनपर विचार करते हुए वे स्पष्ट लिखते हैं—"जो कोई ऋषियोंको

मन्त्रकर्ता बतलावें, उन्हें मिथ्यावादी समझें"। आगे जाकर १३ वें समुल्लास पृ० ३१० में श्रीस्वामीजी 'बाइबिल' के विषयमें लिखते हैं—"यह पुस्तक मनुष्यकृत है; जिसने उसे लिखा है वह विद्वान् भी नहीं था"। आगे आप लिखते हैं—"वेदोंके बनाने, होम करनेके लेखसे यही सिद्ध होता है कि ये बातें वेदोंसे बाइबिलमें गयी हैं"। १४ वें समुल्लासमें 'कुरानशरीफ़' पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—"कुरान ईश्वरकृत नहीं दीखता" (पृ० ३४५)।

सारांश, हम लोगोंके लिए वेद और तदविरुद्ध स्मृतियाँ, पुराण आदि ही शास्त्र हैं। शास्त्रोंके पारिभाषिक सङ्केत भिन्न २ होनेके कारण शास्त्रीय सिद्धान्तोंको समझनेके लिए शास्त्रीय-पद्धतिका अनुसरण करना ही नितान्त आवश्यक है।

(४) जब लाखों प्राणी अनेक आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक पीड़ाओंसे पीड़ित प्रत्यक्षतः अनुभूत हो रहे हैं, तब त्रिविध पीड़ाओंके शमक शास्त्रविहित यज्ञ, जप, कीर्तन आदि अवश्य कर्तव्य हैं।

(५) शास्त्रीय बुद्धि और मानवी बुद्धि बुद्धित्वेन दो नहीं हैं। अपरिष्कृत बुद्धि मानवी-बुद्धि है और परिष्कृत, व्यवसायात्मिका बुद्धि ही शास्त्रीय-बुद्धि है।

(६) जिस प्रकार दीपप्रज्वालनके लिए लोकमें अनेक उपाय हैं, उसी प्रकार भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए भी अनेक उपाय शास्त्रबोधित हैं—जैसे रुद्राभिषेक, अनाथ बच्चोंको दुग्धदान, नामस्मरण आदि। अपने-अपने अधिकारके अनुसार, समयानुकूल, शास्त्रनिर्दिष्ट रीतिका पालन करते हुए उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।'

इसके अनुसार परोपकार अवश्य कर्तव्य है, परन्तु वह उपकार वास्तविक होना चाहिए। ज्वरमें रोते हुए बालकको दही देना उपकार नहीं कहा जा सकता, माघमें अधिक शीतके कारण गङ्गा-स्नानार्थ जा रहे यात्रियोंको रोकना पुण्य नहीं कहा जा सकता। सारांश, शास्त्रीय मार्गसे चलनेवाले लोगोंको 'पापी' कहना तीव्र पर-पीड़न है, जिससे बचनेकी दुहाई डा० साहब आयेदिन दिया करते हैं।

अब श्रीडा० साहबकी दूसरी युक्तियोंपर विचार किया जाता है। 'लोहबान, गुग्गुल आदिकी चुटकी चार अंगारों पर घुमानेकी भाँति आर्यसमाजी भाइयोंका अग्निहोत्र है' यों कहनेवाले महाशय उनके ग्रन्थोंसे परिचित हैं— ऐसा प्रतीत नहीं होता। आर्यसमाजियोंकी 'संस्कार-विधि' (वैदिक-यन्त्रालय अजमेरसे प्रकाशित २० वाँ संस्करण) मेरे सम्मुख है। इसके पृष्ठ १५ में 'अथ सामान्यप्रकरणम्' इस शीर्षकसे 'यज्ञ-प्रकरण' प्रारम्भ होता है। इसमें—यज्ञदेश, यज्ञशाला (कितनी लम्बी, कितनी चौड़ी, कितने हाथ, गोवरसे लेपन आदिके विवेचनके साथ), यज्ञ-कुण्ड-परिमाण (दो लक्ष आहुतियाँ देनी हों तो इतना लम्बा-चौड़ा, इससे अधिक हों तो इतना, कम हों तो इतना, इसी तरह २५०० आहुतियाँ मोहनभोगकी हों तो इतना, २५०० घृतकी हों तो इतना एवं खीरकी आहुतियाँ हों तो इतना परिमाण इत्यादिके विवेचनके साथ), यज्ञ-समिधा, हवनीय द्रव्य, स्थालीपाक, चरू बनानेकी विधि, यज्ञ-पात्र (पात्रोंके लक्षण और परिमाण के विवेचनसहित)। फिर ऋत्विग्वरणविधि, यजमान और ऋत्विजोंके उच्चारणीय मन्त्र आदि

बतलाये गए हैं। पश्चात् षोड्श संस्कारोंका वर्णन किया गया है। प्रायः प्रत्येक संस्कारमें हवन कर्तव्य है। यह बात भिन्न है कि किसीमें कम आहुतियाँ हैं, तो किसीमें अधिक। वहाँ अग्निकुण्डमें आहुति शास्त्रीय विधिसे ही देनी चाहिए—यह बतलाया गया है, डा० साहबके लेखानुसार नहीं।

उपनयन-संस्कारका आरम्भ करते हुए श्रीस्वामी दयानन्दजी लिखते हैं—"अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्, एकादशे क्षत्रियम्, द्वादशे वैश्यम्।" स्वामीजीने शूद्रको उपनयनका अधिकार नहीं दिया। 'कर्मणा वर्णः' का फतवा देनेवाले डा० साहब इसपर विचार करें। आगे चलकर स्वामीजी प्रत्येक बातमें त्रिवर्णमें भी भेद बतलाते हैं—"पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमीक्षाव्रतो वैश्यः" इत्यादि।

अन्तिम अन्त्येष्टि-संस्कारमें तो इतनी आहुतियोंका वर्णन है कि यदि उसे श्रीडा० साहब पढ़ें तो, मेरा निश्चित मत है कि उतने अधिक-परिमाण घृतके विनाशकी चिन्तासे उनके हृदयमें गहरी चोट पहुँच सकती है। उसमें जितना शरीरका भार हो, उतना घृत तो अवश्य होना चाहिए।

'सत्यार्थ-प्रकाश' में 'अग्निहोत्र' विषयपर श्रीस्वामीजीने प्रथम बहुतसे प्रश्न किये हैं; जैसे—घृतादि खानेको देवें तो बहुत उपकार हो, अग्निमें डालकर व्यर्थ नष्ट करना क्यों?, मन्त्र पढ़कर होम करनेका क्या प्रयोजन?, क्या इस होमके न करनेसे पाप होता है? इत्यादि। बाद इन्हीं सब प्रश्नोंका समाधान करते हुए वे अन्तमें लिखते हैं—

"आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग

बहुत-सा होम करते और कराते थे। जबतक इस होम करनेका प्रचार रहा, तबतक आर्यावर्त-देश रोगोंसे रहित, सुखोंसे पूरित था। अब भी इसका प्रचार हो तो वैसा ही हो जाय।"

(स० प्र० संस्क० २२ पृ० २४,२५)

किसी ग्रन्थको बिना विचारे ही उसपर अपनी सम्मति लिख देना कहाँ तक उचित है ? डा० साहब लिखते हैं—

'न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्॥'

क्या कहना है ! यह तो परम सिद्धान्त है, धनिकोंको यह हवन तो नित्य बड़ी श्रद्धासे करना चाहिए। पर इन वाक्योंसे अग्निहोत्र नहीं करना चाहिए' ऐसा कहाँसे निकला ?। इससे विपरीत उपर्युक्त वाक्यसे अग्निहोत्र कर्तव्य ही सिद्ध होता है। 'ब्राह्मणोंके मुखमें भोजनादिरूप हवन वरिष्ठ है' यहाँ 'वर' शब्द श्रेष्ठका वाचक है और 'इष्ठन्' प्रत्ययसे 'श्रेष्ठतर' ऐसा अर्थ होता है, ऐसी स्थितिमें अग्निहोत्रकी श्रेष्ठताका निवारण तो नहीं किया जा सकता। असलियतमें यह वाक्य 'ब्राह्मण-भोजन' की प्रशंसा कर उसमें प्रवृत्ति करानेके लिए ही है। 'खाण्डववन-दहन' की कथाका तात्पर्य मर्मज्ञ विद्वानोंसे श्रद्धापूर्वक पूछने पर ज्ञात हो सकता है। खाण्डववन-दहनके पश्चात् भी यज्ञ हुए हैं।

अब दिल्ली-कानपुर-यज्ञके पश्चात् करक-वृष्टि आदि जो उपद्रव हुए उनपर डा० साहब 'यज्ञके कारण ही ऐसा हुआ' यह कहते हैं। परन्तु इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। अनुमान भी नहीं हो सकता, 'जब २ ओले आदि गिरे, तब २ पूर्वमें यज्ञादि कर्म हुए हैं' ऐसा दृष्टान्त नहीं

मिलता। फिर इन्हीं यज्ञोंका यह दुष्परिणाम है—यह कहना कहाँतक युक्तिसंगत है? हाँ, यज्ञविरोधियोंके अश्रद्धाका भी यह दुष्परिणाम हो सकता है। यज्ञका प्रत्यक्ष फल तो पहले देशमें जितनी अशान्ति थी, वह अब नहीं है, यह कहा जा सकता है। कलकत्तेमें कितने मनुष्य बढ़ गये हैं, व्यापारकी वृद्धि भी हुई है, नयी २ कम्पनियाँ भी खुली हैं। लोगोंका भय कम हुआ है और चित्तमें दृढ़ता भी आयी है। इसके अतिरिक्त अपने शास्त्रानुसार फल सद्यः हो—यह तो नियम नहीं है। अच्छे कर्मोंका फल अच्छा अवश्य है, चाहे वे कर्म किसी व्यक्ति-विशेषने स्वकीय कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर किये हों अथवा अनेक व्यक्तियोंने विश्वकल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर किये हों—"न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।"

शास्त्रानुमोदित जितने शुभ कर्म होते हैं, वे अपना फल समय आनेपर अवश्य देते हैं—

"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥"

(गीता ९।२०)

"यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥"

(गीता १८।५)

इत्यादि प्रमाणोंसे यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानोंके पवित्र अर्थात्

चित्तशुद्धिकारक हैं, यह भलीभाँति ज्ञात हो जाता है, इसलिए उनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, कभी उनसे विमुख नहीं होना चाहिए। उतावलेपनसे कदाचित् विलम्ब प्रतीत हो, पर फल अवश्य हो रहा है और अधिक प्रत्यक्षरूपसे अवश्य होगा। स्वयं श्रीडा० साहब भी तो अनुष्ठान आदि कराते हैं।

मैं १५-२० वर्षोंसे सुन रहा हूँ कि 'अब स्वराज्य मिलेगा, १ वर्षमें मिलेगा, इस कार्यको करनेसे ऐसा होगा' आदि, परन्तु अभीतक कुछ भी हाथ नहीं लगा। फिर भी उस मार्गके पथिक उतावले नहीं हुए, प्रयत्न कर ही रहे हैं। १९०४ में 'वङ्ग-भङ्ग' हुआ, प्रबल उपाय होते २ अन्तमें १९१२ में वह (वङ्ग-विच्छेद) रद्द हुआ ही; प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया, क्योंकि सत्प्रयत्न कभी भी निष्फल नहीं होता—यह निश्चित है।

'यज्ञ' शब्दका मुख्य अर्थ

श्रीडा० महोदय मेरे लेखसे ऐसी ध्वनि निकालते हैं कि मेरा अभिप्राय है—"भगवान् कृष्णने जिस ज्ञान-यज्ञको सबसे श्रेष्ठ बताया है, वह गलत बताया है—असत्य, अनृत कहा है—इत्यादि।" वे मेरी किस पङ्क्तिका ऐसा अर्थ लगा रहे हैं, कृपया लिखें। मैं समझता हूँ कि स्वयं श्रीडा० साहब भी मेरे लेखका तथाकथित तात्पर्य नहीं समझे होंगे, किन्तु किसी उपायसे भी जब आपके लेखके अनुकूल कहना ही उनका ध्येय हुआ, तब वे चाहे जैसा लिख सकते हैं।

आपने अपने दूसरे पत्रमें लिखा है—"आपने गीता-कथित यज्ञका अर्थ 'घी आदिका होम' करके मुझे तो आश्चर्यमें डाल दिया है, गीताकथित यज्ञका अर्थ तो निष्काम कर्म, इन्द्रियदमन आदि है।"

इसका उत्तर देते हुए अपने तीसरे पत्रमें मैंने गीताकथित 'यज्ञ' शब्दका अर्थ अनेक भाष्योंके अनुसार अग्निमें होम करना ही सिद्ध किया है। ज्ञानकी प्रशंसा मुझे इष्ट नहीं, यह भाव कहाँसे निकाला ? श्रीडा० साहबने ज्ञानकी प्रशंसामें जितने वाक्य लिखे हैं, सभी मान्य हैं, वे इससे भी अधिक लिखते, तो भी थोड़े थे, ज्ञानकी प्रशंसा तो बहुत ही है—

"सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।"

(गीता ४।३३)

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥" इत्यादि

(भवसं० ३।२१)

किन्तु विचार तो गीताकथित 'यज्ञ' शब्दके अर्थ पर चल रहा है।

श्रीडा० साहबने 'अन्नाद् भवन्ति' मेरे इस प्रतीकको "पर उस श्लोकको पूरा पढ़िए" इस टिप्पणीके साथ उद्धृत करते हुए उपर्युक्त श्लोक इस प्रकार लिखा है—

"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्याद् अन्नसम्भवः।
अन्नाद्भवन्ति भूतानि यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥"

श्रीमद्भगवद्गीतामें यह श्लोक इस प्रकार है—

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥"

(गीता ३।१४)

पाद-व्यत्यय करनेसे कोई लाभ सोचा होगा, अर्थ तो मनमाना करनेका अभ्यास है ही। "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" की टीका आप करते हैं—"कर्मसे—हाथ, पैर चलानेसे—यज्ञ होता है" इत्यादि। हाथ-पैर चलाना 'कर्म' शब्दका अर्थ करते हैं, किन्तु गीताकार इसीके अगले श्लोकमें कर्म शब्दकी व्याख्या स्वयं कर रहे हैं, जिससे कोई उलटा-पुलटा अर्थ न करे—"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि"-(३।१५) अर्थात् वेद-विहित यानी वेदसे प्रवृत्त कर्म।

'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहाऽर्हसि।'

(गीता १६।२४)

इस श्लोकमें भी इसी अर्थकी पुष्टि की गयी है।

यह प्रकरण गीतामें अध्याय तृतीयके नवें श्लोकसे चला है—

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार॥"
"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्वध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥"
"देवान् भावयताऽनेन"..........।
..................श्रेयः परमवाप्स्यथ॥" इत्यादि।

तत्त्वज्ञानकी इच्छा भी यज्ञानुष्ठान आदिके अनन्तर करनी चाहिए, जब तक यज्ञ आदि कर्म न किये जायँ, तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता। अशुद्ध चित्तमें कदाचित् वैसी इच्छा हुई तो उससे कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। इसीलिए श्रुति प्रत्यक्ष कहती है—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन"

(बृ० ४।४।२२)

यज्ञ आदि चित्तशुद्धिमें कारण हैं—यह तो 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥' इससे स्पष्ट है। इस प्रकार चित्तशुद्धिके लिए इन कर्मोंका करना आवश्यक बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' से इन कर्मोंसे अन्य निष्काम कर्मानुकूल समत्वबुद्धि या आत्मज्ञानकी ओर शुद्धचित्त पुरुषोंकी प्रेरणा करनेके लिए काम्य कर्मों-की निन्दा करते हैं।

"जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्माऽतिवर्तते ।"

(गीता ६।४४)

यहां शब्दब्रह्मका अर्थ है—वैदिक याग आदि काम्य कर्म (वही, जो आपका आक्षेपात्मक घृत आदिका अग्निमें जलाना है)। इस कर्मसे चित्त-शुद्धि होती है और आगे निष्काम बुद्धिसे काम करनेकी इच्छा होती है। इसलिए उपनिषद् तथा महाभारतमें भी (मैत्र्युपनिषद् ५,२२; अमृतबिन्दु १७; म० भा० शान्ति० २३१,६ ; ३०,२६६,१) वर्णन है—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति ॥"

(यह जानना चाहिए कि ब्रह्म दो प्रकारका है—एक शब्द-ब्रह्म और दूसरा उससे परे निर्गुण ब्रह्म। शब्दब्रह्ममें अर्थात् वैदिक यज्ञ-यागादि काम्य कर्मोंमें निष्णात हो जानेपर ही निर्गुण ब्रह्म प्राप्त होता है)। श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें "कामिनः कृपणा लुब्धाः" इत्यादि श्लोकोंका भी यही तात्पर्य है।

इस सारे विवेचनसे अग्निमें हवि जलाना ही यज्ञशब्दका मुख्य अर्थ है, इस मेरे अर्थकी ही सिद्धि हो जाती है। यदि इन्द्रिय-दमन

आदि यज्ञार्थ होता, तो यज्ञ-निन्दाप्रसङ्गमें भी 'अग्निमुग्धाः धूमतान्ताः' कैसे कहते? आत्मज्ञानकी प्रशंसा तो निर्विवाद है, किन्तु चित्तशुद्धिके बिना आत्मज्ञान तो होता ही नहीं, हुआ-सा प्रतीत भले ही हो, उसमें बड़ा धोखा है, अपना मन अपनेको ही धोखा देता है। ऐसे ही लोगों-के लिए महात्मा तुलसीदासजी लिखते हैं—

'ब्रह्मज्ञान बिन नारि नर, करहिं न दूसरी बात।
कौड़ी कारण लोभवश, करहिं विप्रगुरुघात ॥,

ऐसे सर्वश्रेष्ठ आत्मज्ञानको जब यज्ञ कहा जायगा, तब अग्नि, हवि (चरु आदि हवनीय द्रव्य), हवनकर्ता और गन्तव्य स्थानकी कल्पना भी करनी पड़ेगी। इन्द्रियदमनको जब यज्ञ कहा जायगा, तब 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' लिखना पड़ेगा। इससे 'यज्ञ' शब्दका अर्थ अग्निमें शास्त्रीय रीतिके अनुसार हवि-प्रक्षेप ही गीताकथित है, यही सिद्ध होता है। यज्ञ-शब्दार्थ—ज्ञान और ब्रह्म गौण है, यह तो श्रीडा० भी समझ सकते हैं, ब्रह्म और उसका ज्ञान भले ही सर्वोत्कृष्ट हो, पर जब ज्ञानमें यज्ञत्व कहेंगे, तब वह गौण ही होगा और ब्रह्ममें भी अग्नित्व गौण ही रहेगा। भले ही किसी वीर पुरुषमें सिंहसे अधिक शूरता रहे, परन्तु उसमें होनेवाला सिंहत्व-व्यवहार गौण ही होगा; मुख्य नहीं।

आगे चलकर आप मुझे डरानेके लिए 'अजमेध', 'महिषमेध', 'अश्वमेध' आदिका उल्लेख कर मानो डाँट-सी देते हैं। पर इसमें डाटनेकी कोई बात ही नहीं है, इन वचनोंसे मेरे तात्पर्यका खण्डन कभी नहीं हो सकता। 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्, (३।१।२५) इस ब्रह्मसूत्रमें भगवान् व्यासदेवने स्पष्ट निरूपण कर दिया है। सारांश, अपने-अपने

अधिकारानुकूल अधिकारी लोग अश्वमेध आदि करते ही हैं, करें; उन लोगोंको निश्चित शास्त्रविहित फलकी प्राप्ति होगी। पूर्वकालमें अनेक 'अश्वमेध' यज्ञ हुए हैं।

मद्यपान-मीमांसा

श्रीडा० महोदयने मद्यपानको शास्त्रविहित सिद्ध करते हुए इसमें **'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्'** यह वाक्य प्रामाणतया दिया है। जब आपके मतानुसार मद्यपान शास्त्रसम्मत है, तब लाखों आदमी मद्य पीते हैं यह तो ठीक ही है; रोदनास्पद क्यों? । 'तथापि अधिक आदमी मिलकर जो करते हैं, वह धर्म नहीं है' ऐसा बतलाते हुए आप अपने पत्रमें 'लाखों आदमी मद्य पीते हैं' इत्यादि लिखते हैं। परन्तु विचार करने पर मेरे मतके अनुसार यह आक्षेप मेरे सिद्धान्तमें नहीं कर सकते, क्योंकि इसपर मेरा यह कथन है—क्या लाखों आदमी 'सौत्रामणि' यज्ञ करके ही मद्य पीते हैं? उक्त वाक्यसे तो अपनी जिह्वाकी लोलुपताके लिए जो मद्य पीते हैं, उनका निषेध ही सिद्ध होता है। शास्त्रोंमें मद्यपान-निषेधके अनेक वाक्य मिलते हैं। जैसे—

"स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा
चैते पतन्ति चत्वार पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति ॥"

(छा० ५।१०।९)

"ब्रह्महा मद्यपस्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः ।
एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ॥
गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ।''

''अज्ञानन् वै ब्राह्मणं हन्यात्,
सुरां वा पिबेत्, मन्ये स पतितः स्यात् ॥

महात्मा तुलसीदासजी भी सुरापानकी निन्दा ही करते हैं—

'सुरसरिजलकृत वारुणि जाना । कबहुँ न सन्त करें तेहिं पाना ॥'

तब सौत्रामणिमें सुरापान विहित क्यों ? इस प्रश्नपर सावधान होकर विचारना चाहिए। अपूर्व, नियम और परिसंख्या—इन तीन विधियों में से 'पिबेत्' यहां कौन-सी विधि है ? अपूर्वविधि तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह (मद्यपान) रागतः प्राप्त है। नियमविधि भी नहीं हो सकती, क्योंकि अप्राप्तपरिपूरणफलकता नहीं है। ऐसी स्थितिमें तृतीय परिसंख्याविधि ही माननी पड़ेगी। जब विचारसे सिद्ध हो गया कि यह परिसंख्याविधि है, तब तदनुसार ही अर्थ करना होगा—'यदि पिबेत्, तर्हि सौत्रामण्यामेव नाऽन्यत्र'—अर्थात् यदि सुरापान करे, तो सौत्रामणिमें ही, अन्यत्र नहीं। शास्त्रकी परिभाषा जाननेवाले पाठक सरलतासे इस विषयका परिज्ञान कर सकते हैं। इसका निचोड़ यह है कि 'पिबेत्' से सुरापानका निषेध ही विवक्षित है। 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' यहाँ भी शास्त्रकारों ने विचार कर निश्चय किया है कि 'उपेयात्' यह परिसंख्याविधि है यानी 'यदि उपेयात् तदा भार्यायामेव, यदि भार्यायाम्, तर्हि ऋतावेव'।

सारांश, उक्त वाक्यसे जैसे भार्यासे अन्यत्र मैथुननिषेध और भार्यामें भी ऋतुभिन्न कालमें निषेध किया गया है, वैसे ही 'पिबेत्' यहाँ भी

रागप्राप्त सुरापनका 'सौत्रामणि' भिन्न स्थलमें निषेध किया गया है। आगे चलकर श्रीडा० साहब—

"एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो न अज्ञानां उदितो अयुतैः॥"

—मनुकी यह आज्ञा उद्धृत कर अपने 'महाजन' शब्दके अर्थका (कसरत-रायका) स्वयं ही खण्डन करते हैं!

'कर्मणा वर्णः' का खण्डन

श्रीडाक्टर साहब लिखते हैं—'कर्मणा वर्णः', 'वयसा आश्रमः' की व्यवस्थासे मनुके सिद्धान्त और आदेशके अनुसार सच्चा वर्णाश्रमधर्म समस्त मानव जगत्में फैलाइए। वाह रे कैसी प्रसंगकी बात कही हैं! मेरे और आपके किसी पत्रमें भी वर्ण-आश्रमसम्बन्धी चर्चा नहीं हुई, फिर भी यह नया 'फतवा' और मनुके नामसे! क्या कहना है! आपके इस 'पेटेण्ट नुसखे' की समीक्षा 'सिद्धान्त' (वर्ष ३ के अङ्क १६-३१) में भली प्रकार की जा चुकी है, उसे ध्यानसे पढ़िए। मेरे और आपके कुलमें तो 'कर्मणा वर्णः' कोई मानते नहीं हैं। आज भी आपके यहाँ ब्राह्मणभोजनके निमन्त्रण-पत्र दरबान और रसोइये ब्राह्मणोंको भी दिये ही जाते हैं।

महाभारतमें भी शोक मोहसे सन्तप्त राजा धृतराष्ट्र 'तरति शोकमात्म-वित्' यह वेदान्तवाद सुनकर ब्रह्मविद्याके बिना शोक दूर होना अशक्य है, ऐसा समझते हुए विदुरसे बोले—

"अनुक्तं यदि ते किञ्चिद्वाचा विदुर विद्यते
तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे॥"

महात्मा विदुरजी जानते भी थे, फिर भी 'शूद्रयोनावहं जातो नाऽतोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे' मैं शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिए उपनिषद्प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञानमें मेरा अधिकार नहीं है, ऐसा सोचकर योगबलसे भगवान् सनत्सुजातको बुलाकर प्रत्युत्थान आदिसे उनका सत्कार करते हुए बोले—

"भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसे।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ॥"

(राजा धृतराष्ट्र, जिससे सुख-दुःख आदि पाकर मुक्त हो जायँ—ऐसा उपदेश कृपाकर आप दीजिये, मैं कह नहीं सकता)। पश्चात् राजा धृतराष्ट्रके प्रश्नों और महर्षिके उत्तरों का विवरण है। 'कर्मणा वर्णः' का फतवा देनेवाले श्रीडा० साहब उपर्युक्त महाभारतके प्रकरणपर विचार करें। पूर्वापरका प्रचुर विचार किये बिना श्रीडा० साहब हठात् 'कर्मणा वर्णः' का प्रतिपादन करें और उनके अनुयायी मानें तो दूसरी बात है, पर वह शास्त्र-सम्मत और शिष्टानुमोदित मार्ग नहीं हो सकता। 'कर्मणा वर्णः' माननेवालोंको दिनमें दो-चार बार वर्ण-परिवर्तन करना पड़ेगा। अतः 'कर्मणा वर्णः' अपसिद्धान्त है।

"ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥"

(भाग० स्कं १०, उत्तरार्ध अ० ८६, श्लो० ५२)

संसारके प्राणीमात्रमें ब्राह्मण जन्मसे श्रेष्ठ हैं. फिर तपस्वी भी हों, विद्वान् भी हों, सन्तोषी भी हों और मेरी भक्तिसे युक्त हों, तो कहना ही क्या है!

अपिच, शास्त्रोंमें जो-जो संस्कार आदि कर्म विहित हैं, जैसे—

"गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥"

(मनु० अ० २, श्लो० ३६) ।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टम्.........."

(मनु० अ० २ श्लो० १६०)

"प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ।
कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं वशः स्मृतम् ॥"

(या० स्मृ० आचा०, श्लो० ११६) ।

'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत,
ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः,' इत्यादि

यानी ब्राह्मणका आठवें वर्षमें; उपनयन करे, क्षत्रियका एकादश-में और वैश्यका बारहवें वर्षमें; यह कार्य ब्राह्मण ही करे; क्षत्रियका मुख्य कर्म प्रजापालन है, वैश्यका वाणिज्य आदि है; वसन्तकालमें ब्राह्मण अग्निका आधान करे, ग्रीष्ममें क्षत्रिय और शरद्में वैश्य इत्यादि—वे सब जन्मसिद्ध ब्राह्मण आदि वर्णोंको उद्देश्य करके विहित हैं। कर्मोंको उद्देश्य करके ब्राह्मण आदि जातियाँ विहित नहीं हैं। सारांश, जो ब्राह्मण होना चाहे, वह यह कर्म करे; जो क्षत्रिय होना चाहे, वह यह कर्म करे; ऐसा विहित नहीं है। इसीलिए—

"सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥"

(मनु० अ० १०, श्लोक० ९२)

इत्यादि वाक्योंसे 'ब्राह्मण स्वकीयजात्युचित विहित कर्मोंका परित्याग कर क्षीर आदिका विक्रय करता है, वह तीन दिनमें ही शूद्र हो जाता है'

यह जो कहा है, उसका तात्पर्य शूद्रसदृश हो जाता है, इसी अर्थमें है। वह शूद्रस्वरूप हो जाता है और उसमें से ब्राह्मणपन हट जाता है, इस अर्थमें नहीं है।

'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणशून्यः ॥'

इससे क्या साहित्य, सङ्गीत आदिसे विहीन पुरुष चार पैरवाला पशु हो जाता है—यह अर्थ निकलता है ? नहीं, किन्तु पशुतुल्य हो जाता है, यह अर्थ निकलता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वर्ण जन्मसिद्ध ही है कर्मसे नहीं।

'वयसा अश्रमः' का खण्डन

'वयसा आश्रमः' भी ऐसा ही अप्रासङ्गिक 'फतवा' है। इसका क्या अर्थ समझा जाय ? यदि जो वृद्ध हो, उसीको संन्यासी समझो, तब तो बहुत ठीक, क्योंकि सब वृद्धोंको घर छोड़कर भिक्षाटनसे निर्वाह करना चाहिए। स्वयं वृद्धावस्थासम्पन्न डाक्टर साहब ऐसा करते हैं, यह आज तक सुना नहीं गया है। उनके लेखके अनुसार कमसे कम उन्हें तो दारसुतकी एषणा, शिष्योंकी एषणा, पादपूजकोंकी एषणा, मण्डलीशताकी एषणा आदि नहीं घेरती होंगी ?

सङ्कल्पमें बौद्धावतार

सङ्कल्पमें जो 'बौद्धावतारे' कहा जाता है, उससे आजकलके बौद्धोंका समन्वय डाक्टर साहब करना चाहते हैं। यह नितान्त अनुचित है, क्योंकि जो सङ्कल्पमें 'बौद्धावतारे' से बुद्ध लिये जाते हैं, वे दूसरे हैं और गौतम बुद्ध दूसरे हैं। उन दोनोंके नाम, पितृनाम (वल्दियत) और जन्मस्थान (सकूनत) पर ध्यान दीजिए—एकका नाम बुद्ध है तो दूसरेका नाम सिद्धार्थ। एकके पिता अजन हैं तो दूसरेके शुद्धोदन।

एककी जन्मभूमि गया-प्रदेश है तो दूसरेकी नैपालकी तराई। फिर जन्मकालमें भी बड़ा अन्तर है--एकका जन्म खीष्टाब्दसे लगभग ३००० वर्ष पूर्व है तो दूसरेका खीष्टाब्दसे ५६२ वर्ष पूर्व है, अर्थात् जन्मकालमें लगभग २४०० वर्षका अन्तर है। देखिए, श्रीराहुल-सांकृत्यायनजी अपने लिखे हुए 'त्रिपिटक' नामक बौद्धधर्मका अनुवाद 'बुद्धचर्य्या' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं —

"विक्रमसे ५०५ वर्ष पूर्व अर्थात् खीष्टाब्दसे ५६२ वर्ष पूर्व राजा शुद्धोदनसे रानी मायादेवीके गर्भमें सिद्धार्थ (महात्मा गौतम) का जन्म 'कपिलवस्तु' नामक नगरमें हुआ। ये महात्मा ३५ वर्षकी उम्रमें बुद्ध हुए"

इससे स्पष्ट है कि महात्मा गौतमने 'बुद्ध' पदवी ३५ वर्षकी उम्रमें ग्रहण की, उसके पहले वे कुमार सिद्धार्थ थे।

और उन अवतारी बुद्धके विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है —

"ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥"

अर्थात् कलियुगके प्रवृत्त होनेपर देवशत्रुओंके मोहनके लिए अजनके पुत्र बुद्ध नामक कीकटदेशमें उत्पन्न होंगे। इसकी टीका करते हुए श्रीधर स्वामीजी लिखते हैं—"कीकटेषु मध्ये-गयाप्रदेशे।" अग्निपुराणमें इनकी मूर्तिके निर्माणमें उल्लेख मिलता है--

ऊर्ध्वपद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः।'

इन्हीं अवतारी बुद्धके नाम अमरकोषमें १८ आये हैं—

"सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः ।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः ।
मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता मुनिः········ ॥

और गौतम बुद्धके सात नाम आये हैं—

"·····················शाक्यमुनिस्तु यः ।
स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शौद्धोदनिश्च सः ।
गौतमश्चाऽर्कबन्धुश्च मायादेवी सुतश्च सः ॥'

(देखिये सन्मार्ग, वर्ष २ यके अङ्क ९ में प्रकाशित 'बुद्ध और गौतम बुद्ध' शीर्षक श्रीविजयानन्दत्रिपाठी साहित्यरञ्जनजीका लेख) ।

श्रीशङ्कराचार्यजीको विजय शास्त्रकी थी

श्रीशङ्कराचार्यजीके दिग्विजयके सबंन्धमें श्रीडा० साहब लिखते हैं कि "यह विजय शास्त्रकी नहीं, शस्त्रकी थी, उनके साथ-साथ राजा सुधन्वाकी सेना चलती थी। इस विषयमें उन्होंने शङ्करदिग्विजयका एक श्लोक भी उद्धृत किया है, उसपर विचार करते हैं। श्रीडा० साहबने 'आसेतोः आहिमाद्रेश्च' इत्यादि श्लोक शङ्करदिग्विजयसे उद्धृत किया है, वह शङ्करदिग्विजयके प्रथम सर्गका ६३वें श्लोक है। भगवान् शङ्कराचार्यजीका प्रादुर्भाव भी यहाँ नहीं हुआ है, न इस श्लोकसे भगवान् शङ्करका कोई सम्बन्ध ही है। राजा सुधन्वाकी सभामें बौद्ध विद्वानोंकी ही प्रधानता थी। एक दिन वेदधर्मके प्रवर्तक महाविद्वान् श्रीकुमारिल भट्ट राज-सभामें पधारें, राजा सुधन्वा ने उनकी विधिवत् पूजा की।

"राज्ञः सुधन्वनः प्राप नगरीं स जयन् दिशः ।
प्रत्युद्गम्य क्षितीन्द्रोऽपि विधिवत्तमपूजयत् ॥"

(शं० १।६२) ।

सभाके समीप एक वृक्षपर कोकिलका शब्द सुनकर श्रीभट्टपाद बोले—

"मलिनैश्चेन्न सङ्गस्ते नीचैः काककुलैः पिक ।
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥"

(शं० १।६५)

हे कोकिल, यदि मलीन, नीच तथा कानोंमें पीड़ा पहुँचानेवाले कौओंके साथ तेरा सङ्ग नहीं होता, तो तू स्तुतिके योग्य होती । कोकिलके व्याजसे राजाको भट्टपाद कहते हैं—मलीन, नीच, नास्तिक वेददूषकोंके साथ तुम्हारा संग नहीं होता, तभी तुम प्रशंसाके योग्य होते । यह सुन गूढ़ोक्ति समझ कर बौद्ध विद्वानोंको अत्यन्त क्रोध हुआ और परिशेषमें शास्त्रार्थकी ठहरी । भट्टपादकी युक्तियोंके आगे बौद्ध नहीं ठहर सके, चुप हो गये—

"अधः पेतुर्बुधेन्द्रेण क्षताः पक्षेषु तत्त्वराम् ।
व्यूढकर्कशतर्केण तथागतधराधराः ॥"

(शं० १।७०) ।

'चकार चित्रविन्यस्तानेतान् मौनविभूषितान् ।'

(शं० १।७१)

तब राजा सुधन्वाने सोचा—यह विजय तर्कसे हुई है, कोई और अधिक विद्वान् इनकी युक्तियोंका भी खण्डन कर सकता है, कोई दैवी बात होनी चाहिए । इसलिए पर्वतके शिखरपर चढ़कर जो गिरकर न मरे, उस पक्षकी विजय ठीक मानी जायगी—

"वभाषेऽथ धराधीशो विधायत्तौ जयाजयौ।
यः पतित्वा गिरेः शृङ्गादव्ययस्तन्मतं ध्रुवम् ॥"

(शं० १।७३)।

सुनते ही बौद्ध विद्वानोंकी तो हिम्मत नहीं हुई, भट्टपाद पर्वतके शिखरपर चढ़ गये और नीचे गिरे—

"द्विजाग्र्यस्तु स्मरन् वेदानारुरोह गिरेः शिरः।
यदि वेदाः प्रमाणं स्युर्भूयात् काचिन्न मे क्षतिः।
इति घोषयता तस्मान्न्यपाति सुमहात्मना ॥"

(शं० १।७४,७५)।

"अपि लोकगुरुः शैलात्तूलपिण्ड इवाऽऽपतत्।"

(शं० १।७७)।

रूईके ढेरकी तरह उनके कहीं चोट नहीं आयी—बाल बांका नहीं हुआ। इसपर भी बौद्धोंको सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने कहा कि मणि, मन्त्र, औषधिसे भी देहरक्षा हो सकती है, अतः इससे निश्चित विजय नहीं मानी जा सकती—

"सौगतास्त्वब्रुवन्नेदं प्रमाणं मतनिर्णये।
मणिमन्त्रौषधैरेवं देहरक्षा भवेदिति ॥"

(शं० १।८०)।

सुनकर राजाको क्रोध तो हुआ, किन्तु दूसरी बार परीक्षा लेनेकी फिर ठहरी और एक घड़ेमें सर्प रख दिया, फिर उनसे पूछा कि बताइए इसमें क्या है ? जो पक्ष नहीं बता सकेगा उसीको मरवा दूँगा।

"इति संश्रुत्य गौत्रेशो घटमाशीविषान्वितम् ।
आनीयाऽत्र किमस्तीति पप्रच्छ द्विजसौगतान् ॥"

(शं० १,८३)

बौद्धोंने कहा—कल बतलायेंगे । दूसरे दिन बौद्धोंने कहा—इसमें सर्प है और भट्टपादने कहा—शेषशायी भगवान्‌की प्रतिमा है—

"ततस्ते सौगताः सर्वे भुजङ्गोऽस्तीत्यवादिषुः ॥
भोगीशभोगशयनो भगवानिति भूसुराः ॥"

(शं० १।८७)

घड़ा खोला गया । उसमें भगवान् शेषशायीकी ही मूर्ति दिखाई दी—

"मूर्तिं मधुद्विपः कुम्भे सुधामिव सुराधिपः ।
निरस्ताखिलसन्देहो विन्यस्तेतरदर्शनात् ॥
व्यधादाज्ञां ततो राजा वधाय श्रुतिविद्विषाम् ।"

(श० १।६१, ६२)

सर्पके स्थान पर भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन कर राजाको वेदमार्गपर परिपूर्ण श्रद्धा हो गयी और वेदशत्रुओंको मारनेकी आज्ञा दी। इसी प्रसंगमें 'आसेतो' इत्यादि श्रीडाक्टर साहब द्वारा उद्धृत श्लोक आता है । श्रीडा० साहबने अपनी कल्पनासे कहाँकी बात कहाँ और कैसे मिलायी ? पाठक विचार करें । सुधन्वाकी सेना भाष्यकारके साथ किस शास्त्रार्थमें गयी—इसका प्रमाण श्रीडा० साहबको देना चाहिए।

शङ्करदिग्विजयमें महाविद्वान् श्रीमण्डनमिश्रका शास्त्रार्थ सभी शास्त्रार्थोंसे महत्त्वपूर्ण है, वहाँ सुधन्वा राजाका नाम भी नहीं है, १५वें सर्गमें—

"अथ शिष्यवरैर्युतः सहस्रै-
रनुयातः स सुधन्वना च राज्ञा ।
ककुभो विजिगीषुरेष सर्वाः
प्रथमं सेतुमुदारधीः प्रतस्थे ॥"

(शं० १५।१)

हजारों योग्य-योग्य शिष्यों सहित सुधन्वा राजाके साथ सम्पूर्ण दिशाओं के विद्वानों को जीतनेकी इच्छासे उदारधी भगवान् श्रीभाष्यकारने पहले रामेश्वरकी ओर प्रस्थान किया। यहाँ भी सुधन्वा राजाकी फौज साथमें नहीं थी, इनके गुणगणोंसे मोहित होकर राजा भी इनकी युक्ति, तर्क आदि सुननेकी इच्छासे इनके साथ गये थे। सो भी बहुतसे शास्त्रार्थोंमें विजयके पश्चात्। इससे भाष्यकारकी विजयको शस्त्रकी विजय कहना कहाँ तक ठीक है? आप ही स्वयं विचार करें। शास्त्रसे विजयके तो अनेक प्रमाण मिलते हैं।

मुख्य प्रश्न

अब मुख्य प्रश्नपर विचार कीजिये कि :(१) आचार्य-परम्परासे शास्त्राध्ययनशून्य—व्यापारी धनी वैश्य पाप-पुण्यका निर्णायक हो सकता है क्या? मिलके इञ्जिनमें यदि कोई खराबी होती है, तो हम लोग मेकेनिकल इंजिनियरोंसे ही परामर्श लेते हैं; कितने ही अनुभवी, आयुर्वेद, एलोपेथि शास्त्रोंके ज्ञाता हों, उनसे नहीं पूछते। जैसे संस्कृतके ही आचार्य-परीक्षोत्तीर्ण व्याकरणाचार्य अथवा साहित्याचार्य से ज्यौतिष एवं आयुर्वेदसम्बन्धी प्रश्न उपहासास्पद ही हैं, ठीक इसी प्रकार हम लोग व्यापारी व्यापारसम्बन्धी प्रश्नोंपर विचार

करें— धनकी रक्षा कैसे हो, देशकी उन्नति किस प्रकारसे हो, हमारे देश-का धन किन उपायोंसे बाहर न जाय, इस समय कौन व्यापार देशके लिए हितकर होगा इत्यादि—तब तो ठीक ही है। 'यह पाप है', 'यह पुण्य है'—इस विषयमें यदि अपनी सम्मति दे डालें, तो यह दुःसाहस ही है। पाप-पुण्यकी व्याख्या अत्यन्त गहन है। लेख बहुत बढ़ गया है, इतना लिखनेका विचार कदापि नहीं था, किन्तु श्रीडा० साहबका बड़ा अनुग्रह है कि उनके लेखके उत्तरके लिए इस प्रसंगमें मुझे कई पुस्तकोंके आलोचनका अवसर प्राप्त हुआ। आपको पढ़नेमें बहुत समय लगेगा।

अन्तमें श्रीडाक्टर साहब लिखते हैं—'मुझको भी शास्त्रमें आस्था है, पर किस शास्त्रमें ? 'मुझे तो कृष्णके कहे हुए शास्त्रोंमें आस्था है'—यह बड़ी सुन्दर पंक्ति है, भगवान् कृष्णके वाक्योंमें आस्था है तो कहना ही क्या है ? वाह !

"कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे॥"

कृपया वे भगवान् कृष्णके ही वाक्योंके ऊपर ध्यान दें—

'हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः॥'
'पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥'

(भा० १०।१५)

अर्थात् वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंसे अग्नियोंमें घृत आदिका हवन कराओ, ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके रसयुक्त भोजन दो, धेनुसहित

दक्षिणा दो, खीरसे आरम्भकर दालपर्यन्त नाना प्रकारके पाकोंका निर्माण कराओ, मोहनभोग, पूवा, जलेबी एवं सकल गोरसोंको एकत्र करो।

भगवान् कृष्णके वाक्योंमें आस्था होनेपर भी यज्ञोंका खण्डन हो, नाम-संकीर्तन अच्छा न लगे, ग्रहण, महावारुणी, कुम्भ, सोमवती अमावस्या आदि पर्वों पर गंगास्नान बुरा लगे, उन्हें हिन्दुओंका भेड़ियाधसान बतलाया जाय, भगवान्के मंगलमय नामोंको चिल्ला-चिल्ला कर रटनेवालों-के लिए म्युनिसिपैलिटी या मेजिस्ट्रेटकी ओरसे रोकने की धमकी दी जाय, यह आपके श्रीडाक्टर साहबको ही शोभा देता है। भगवान्के ध्यान और नाम की कितनी महिमा है—

'न भारती मेऽङ्ग मृपोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥'

(भा० २।६।३३)

(श्रीब्रह्माजी कहते हैं—हे नारद! मैंने प्रेमभक्तिमें गद्गद् चित्तसे श्रीहरिका ध्यान किया था। अतः मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं होती, मेरे मनकी गति कभी असत्य नहीं होती, मेरी इन्द्रियाँ कभी खोटे मार्गमें प्रवृत्त नहीं होती हैं)।

'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नाऽस्त्येव नाऽस्त्येव नाऽस्त्येव गतिरन्यथा॥
भर्जनं भवबीजानामर्जनं सर्वसम्पदाम्।
तर्जनं यमदूतानां रामरामेति गर्जनम्॥

घन इव मानसमनिशं पूरयदमितै रसोद्गारैः ।
मणिरिव कण्ठेऽमृतमिव रसनायां रामनामास्तु ॥

नन्दानन्दकरं करम्बितकरं हैयङ्गवीनैर्नवैः
शोभामादधतं नवीनजलदे मीलत्सुधांशोः स्फुरम् ॥

भक्तानां हृदि संस्थितं सततमप्याभीरहग्गोचरम्
गोपालं भजतां मनो मम सदा संसारविच्छित्तये ॥

झटिति जगतामंहस्तूलं दहद्दहनो महत्
दहरकुहरध्वान्तं ध्वस्तं नयन्नभसो मणिः ।

किरणलहरीचान्द्री चेतश्चकोरचमत्कृति-
र्भवतु भवतां नामज्योतिर्मुदे मदनद्रुहः ॥

श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणे-
त्यानन्देति दयाधरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति च ।

श्रीमन्नाममहामृताब्धिलहरीकल्लोलमानं मुहुः,
मुह्यन्तं गलदश्रुधारमवशं मां नाथ नित्यं कुरु ॥

आखर मधुर मनोहर दोऊ, बरन बिलोचन जनजिय जोऊ ।
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू, लोक लाहु परलोक निबाहू ॥
कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके, राम-लखन सम प्रिय तुलसीके ।
बरनत बरन प्रीति बिलगाती, ब्रह्म जीव सम सहज संघाती ॥
नर-नारायण सरिस सुभ्राता, जग पालक बिशेषि जनत्राता ।
भगति सुतिय कल करन बिभूषन, जगहित-हेतु बिमल बिधु पूषन ॥
स्वाद तोष-सम सुगति सुधाके, कमठ शेष सम धर बसुधाके ।
जनमन मञ्जु कञ्ज मधुकरसे, जीह जसोमति हरि हलधरसे ॥

एक छत्र एक मुकुट मणि, सब वरनन पर जोउ ।
तुलसी रघुबर नामके, बरन विराजत दोउ ॥

रामनाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार ॥
तुलसी भीतर बाहिरहु, जो चाहत उजियार ॥

सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन ।
नामसुप्रेम पियूष हद, तिनहूँ किये मन मीन ॥

———❋———

श्रीडा० साहबके परिवर्धित लेखकी समीक्षा

[श्रीडा० साहबका पहले लेख 'हिन्दुस्तान' पत्र में क्रमशः निकला, जिसका उत्तर मैंने उपर्युक्त रीतिसे दिया है, यह उत्तर 'दैनिक-जागृति' के ३ अगस्तसे ६ अगस्त तक ४ अंकोंमें 'श्रीघनश्यामदासजी बिडलाके नाम खुला पत्र' शीर्षकसे प्रकाशित हो गया है । श्रीडा० साहबका 'हिन्दुस्तानमें प्रकाशित' उक्त लेख पुस्तिकारूपसे परिवर्धित होकर हमारे सामने पुनः आया । परिवर्धित लेखमें श्रीडा० महोदय मीमांसाशास्त्रका अवलम्बन करते हुए यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं कि हमारी स्मृतियाँ लोभसे बनायी गयी हैं । स्मृतिमें लोभमूलकत्वका प्रतिपादन देख मैं चकित हो गया । जिस प्रकार यज्ञादि विषयों में श्रीडा० महोदयको भ्रान्ति है, इसी प्रकार मीमांसाशास्त्रमें भी उनको भ्रान्ति ही है;

इसका निवारण करना अपेक्षित समझकर मैंने इस विषयसे मीमांसाकी पद्धतिसे स्मृतियोंमें लोभमूलकत्वका खण्डन किया है। मीमांसासम्बन्धी विचार करते मैंने गोयनका विद्यालयके उपाध्यक्ष मीमांसाचार्य पं० श्रीरामचन्द्रशास्त्री खनङ्गजीसे सहायता ली है, निम्नाङ्कित लेख उन्होंने कृपाकर दिया है—गौरीशङ्कर गोयनका।]

परिवर्धित लेख देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञ की नाईं श्रीडा० साहब मूर्ति-पूजाको एक खिलवाड़ एवं ईश्वरमें श्रद्धा-भक्तिका प्रचार करनेवाले महात्माओंको ढोंगी समझ रहे हैं। जिन शास्त्रोंमें डा० साहबका तनिक भी गम्भीर प्रवेश नहीं है, उन नव्यन्याय, नव्यव्याकरण आदि प्रदीपवत् सर्वार्थप्रकाशक शास्त्रोंको वे कोरा कह रहे हैं! आगे चलकर आप कहते हैं कि "जैमनि, शबर तथा भट्ट कुमारिल स्वतन्त्रमतिके विद्वान् थे। ये विद्वान् श्रुति, स्मृतियों की परवाह न करके अपने स्वतन्त्र विचार लोगोंके सामने रखते थे। यह बात सूत्र, भाष्य तथा वार्तिककारोंके लेखों से स्पष्ट प्रतीत होती है इत्यादि"।

डा० साहबके उपर्युक्त विचारोंकी समीक्षा करना अवसर-प्राप्त हो गया है। यदि अभीसे उस विषयका स्पष्टीकरण और तात्त्विक निर्णय न किया जायगा तो बहुत सम्भव है कि अज्ञ और अर्ध अज्ञ समाजका बुद्धिविभ्रम होगा, जो कभी भी इष्ट नहीं कहा जायगा। इस समीक्षा-करणके प्रसङ्गमें विशेषतः ५ बातों पर ही विचार करना योग्य है। वे बातें निम्न लिखित हैं—(१) यज्ञके साथ श्रीडा० साहबका सम्बन्ध; (२) मूर्ति-पूजा; (३) नव्यन्याय तथा नव्यव्याकरणकी आवश्यता; (४) यज्ञोंका महत्त्व; (५) कुमारिलकी स्वतन्त्रमति।

(१) यज्ञके साथ श्रीडा० साहबका सम्बन्ध

गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

"जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं, अति मारीच सुबाहुहि डरहीं।
देखत जज्ञ निसाचर धावहिं, करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥"

जहाँपर मुनिलोग जप, यज्ञ तथा योगका अनुष्ठान करते हैं, वहाँ उन्हें मारीच और सुबाहुका बड़ा डर रहता है। यद्यपि प्रकृत में मारीच और सुबाहु शब्द ताड़काके पुत्रोंमें ही शक्त हैं, तथापि उस मारीच शब्दसे श्रीगोस्वामीजीका ध्वनित अर्थ 'मारीचके समान मोहक शब्दोंसे लोगोंको, लच्छणकी तरह, अपनी ओर खींचनेवाला' ही है। अतएव उन्होंने 'अति मारीच' ऐसा कहा। अर्थात् मारीच प्रकृतिके लोगों से यज्ञमें जितना अधिक भय है, उतना सुबाहु प्रकृतियों से नहीं। उससे (सुबाहुसे) लोगोंको तभी तक भय रहता है, जबतक कि वस्तु विशेषसे उसकी मुट्ठियाँ नहीं भर दी जातीं, मुट्ठियों के भरनेके बाद उससे भयकी सम्भावना नहीं रहती। परन्तु दूषित मनवाले मारीचके—जिसने कि अपने मोहक शब्दोंसे पूजनीया माता जानकीजीके प्रति परम भक्ति एवं श्रद्धा करनेवाले लक्ष्मणको भी क्रुद्ध कर अपनी ओर खींच लिया था—सदृश प्रकृतिवाले लोगोंसे यज्ञमें किंबहुना लौकिक मंगल कार्योंमें भी बराबर डर लगा रहता है, क्योंकि ये कान्तासम्मित अपने आपाततः श्रवण-मधुर, मोहक शब्दोंसे लोगोंको यज्ञ आदि कार्योंके प्रति क्रुद्ध बनाकर अपनी ओर खींचा करते हैं, यज्ञके विषयमें द्वेष उत्पन्न करते हैं। अतः गोस्वामीजीका ध्वनित अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत होता है। खेदके

साथ कहना पड़ता है कि माननीय डा० साहबके लेखसे भी ठीक २ यही प्रकार प्रकट हो रहा है।

(२) मूर्ति-पूजा

अखिल-ब्रह्माण्डनायक, सच्चिदानन्दघन, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति परब्रह्म परमात्माकी, जिसकी इच्छामात्रसे अखिल ब्रह्माण्डोंके क्षणभरमें सृष्टि, स्थिति एवं विनाश हो जाते हैं, उपासना तथा पूजासे वही सहमत नहीं हो सकता, जो उसके अचिन्त्य, अनन्त वैभवसे कथमपि परिचित नहीं है। इस श्रेणीके बुद्धिमानोंके लिए न्यायाचार्य उदयनकी उक्ति ही पर्याप्त है। वे कहते हैं:—

"इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते,
येषां नाऽऽस्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयाऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः,
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥"

भगवन्! इस प्रकार श्रुति और न्यायोंका परस्पर विरोध हटाकर किये गये सम्मेलनरूपी जलोंसे जिन पुरुषोंके हृदयोंसे बार-बार प्रक्षालन द्वारा संशयात्मक मल दूर किये गये हैं, उन पुरुषोंके हृदयमें जो आप निश्चयात्मना निवास नहीं करते, उसमें मुख्य कारण यही है कि वे सचमुच लोहेके सदृश कठिनचित्त हैं। परन्तु हे दयालो! अन्त-कालमें अनेक प्रकारके क्लेशोंसे पीड़ित हो रहे, अतएव दूसरे साधनके अभावमें क्लेशनिवारणार्थ एकमात्र आपका ही चिन्तन कर रहे, आपके विषयमें कुतर्क करनेवाले उन लोगोंका आपको कृपापूर्वक उद्धार कर देना चाहिए।

यद्यपि यह परमात्मा "एकमेवाद्वितीयम्०", "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" इत्यादि श्रुतियोंसे निर्गुण तथा एकरूप ही है; तथापि "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति", "अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादि श्रुतियोंसे 'अन्तर्यामी' और 'बहिर्यामी' इस भेदसे दो प्रकारका है। उनमें अन्तर्यामी भीतर रहकर प्रेरक होता है। इस विषयमें श्रुति और स्मृति भी अनुमोदन करती है,—"एष वात्मान्तर्याम्यमृतः", "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"। यह अन्तर्यामी चित् एवं अचित् दोनोंका प्रेरक होनेसे 'चिदन्तर्यामी' तथा अचिदन्तर्यामी—यों दो प्रकारका है। उक्त दोनों प्रकारका अन्तर्यामी उपासकोंको देहयुक्त तथा अन्योंको चिन्मात्ररूप मालूम पड़ता है। बहिर्यामी बाहर रहकर नियामक होता है जैसे—शास्त्र तथा तदनुगामी लोकोंमें प्रसिद्ध अवतार आदि। अवतारादि भी नित्यविभूतिनिलय एवं लीलाविभूतिनिलय—यों दो प्रकारके हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश नित्यविभूतिनिलय हैं। लीलाविभूतिनिलय व्यूह तथा अवतार भेदसे दो प्रकारका है। जगत्का सर्जन एवं वेदका प्रदान—इन दो गुणोंके अभिव्यञ्जक शरीरोंको धारण करनेवाला, सर्व देहोंमें व्याप्त ब्रह्मादि रूपसे अवस्थित व्यूह कहलाता है और अपने संकल्पसे पराधीन व्यक्त देहको धारण करनेवाला भक्त-वात्सल्यादि अनेक गुणोंसे युक्त अवतार कहलाता है; जैसा कि भगवान्ने कहा है—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां द्रष्टुमर्हसि॥"

यह अवतार भी विभव तथा अर्चाभेदसे दो प्रकारका है। इनमें

भी 'विभवावतार' जाना-आना तथा संयोग-वियोगके योग्य दिव्यदेह प्रकट किये रहता है। यह विभवावतार भी स्वरूप तथा आवेश भेदसे दो प्रकारका है। अपना इतरसजातीय अप्राकृतरूप प्रकट करते हुए अवस्थित परमेश्वर—स्वरूपावतार है। यह 'स्वरूपावतार' भी 'मनुजावतार' और 'अमनुजावतार' भेदसे दो प्रकारका है। मनुष्यके सदृश आकारवाले राम, कृष्ण आदि मनुजावतार हैं। यह बात "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्यादि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है। उपेन्द्र, मत्स्य आदि अमनुजावतार है। आवेशावतार भी स्वरूप तथा शक्तिके आवेशभेदसे दो प्रकारका है। 'स्वरूप आवेशावतार' उसे कहते हैं, जो अपने स्वरूपसे किसी चेतनमें सन्निहित होकर स्थित रहता है; जैसे—कपिल, अनन्त, व्यास, परशुराम प्रभृति। और 'शक्ति-आवेशावतार' उसे कहते हैं, जो अपनी शक्तिसे किसी चेतनमें सन्निहित होकर स्थित रहता है; जैसे—पृथु, धन्वन्तरि आदि।

"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥"

भगवान् द्वारा कहे गये इस वचनके अनुसार आधुनिक महात्माओंको भी 'शक्ति-आवेशावतार' समझना चाहिए। उपर्युक्त आवेशावतार भी 'गृहार्चावतार' एवं 'आयतनार्चावतार'—इस तरह दो प्रकारका है। इस अर्चावतारमें परमात्माकी स्थिति अर्चकके अधीन होती है। उसमें भी 'गृहार्चावतार' उपासकोंके द्वारा घरमें अथवा देवालयमें स्थापित, मन्त्रसंस्कृत मूर्ति कहलाता है। मूर्तिमें मन्त्रबलसे भगवान्का सान्निध्य कराया जाता है। इसीलिए उसे अवतार कहते हैं। परमात्मा

अपने संकल्पमात्रसे जहाँ सन्निधिमें स्थित रहता है, उसे 'आयतनार्चावतार' कहते हैं; जैसे—शालग्राम तथा काशीके अन्य स्वयंभू लिङ्ग, जिनका श्रीडा० साहब के लेखमें उपशान्तेश्वर, आत्मविरेश्वर, आनन्दभैरवेश्वर आदि नामोंसे उल्लेख है और जहाँ परमात्माने अपनी इच्छासे सान्निध्य कर लिया तथा भक्तोंके लिए मूर्तिमें बँध गये।

अब प्रसङ्गवश श्रीडा० साहबके 'इटेश्वर', कंकड़ेश्वर' की बात आयी। इसपर हमारा यही कहना है कि यदि श्रीडा० साहबने अपने घरके ईंटों तथा कंकड़ोंकी विधिपूर्वक तथा मन्त्रपूर्वक देवताओंके रूपमें स्थापना की हो, तो उस मकानके प्रत्येक कंकड़ और ईंटोमें परमात्माका उपर्युक्त 'अर्चावतार' हो गया है, जिसकी स्थिति श्रीडा० साहबके ही अधीन है। यदि वे उसकी पूजा नहीं करते, तो उनका पिण्ड प्रत्यवायसे कभी भी छूट नहीं सकता। यदि मन्त्रपूर्वक उनकी (ईंटों आदिकी) स्थापना नहीं की हो, तो ईश्वर शब्द लगा देनेसे क्या निकला ? ईश्वर शब्द लगाने के पूर्व यह विचार करना चाहिए कि ईश्वरावतार बड़ी तपश्चर्या एवं मन्त्रप्रयोगसे ही होता है, वह जैसा श्रीडा० साहब समझ रहे हैं, वैसा सस्ता नहीं है। मूर्तिकी पूजा करना परमात्मामें अपनी भक्तिका परिचय देना है, एवं मूर्ति-पूजाकी निन्दा करना अपना परमात्मामें अविश्वास प्रकट करना है। आज भी यह देखा जा रहा है कि बड़े २ नेताओंकी प्रस्तरमूर्तियाँ बनती हैं, उनके सामने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे नमन किया जाता है।

(३) नव्यन्याय, व्याकरण आदि की आवश्यकता

यद्यपि प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंमें बहुमूल्य रत्न पड़े हुए हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; तथापि बौद्धोंने अपने जमानेमें निजी कुविचार-

धूलियोंसे इन रत्नोंको आच्छादित कर दिया था, जिसके लिए प्राचीन दार्शनिकोंको नव्यसरणिका अवलम्बन कर उन धूलियोंको पोंछना पड़ा। अतएव नव्यसरणिसे अनभिज्ञ लोग दार्शनिक होते हुए भी धूलिच्छन्न आर्ष ग्रन्थोंमें स्थित रत्नोंको भली भाँति पहचान नहीं सकते। इसलिए माननीय डा० साहबको, अन्यदीय कुविचारोंसे प्रभावित होनेके कारण तथा उन कुविचारोंके प्रभावसे बचनेके लिए अत्यावश्क नव्यन्यायका परिष्कृत ज्ञान न होनेके कारण, रत्न तथा कंकड़में कुछ भेद नहीं मालूम होता। फलतः उन्हें साठ हजार वर्ष सूर्यकी तपश्चर्यासे आविर्भूत श्रीगभस्तीश्वर तथा कंकड़ेश्वर समानरूपमें दिखाई पड़ रहे हैं।

(४) यज्ञोंका महत्त्व

हमारे रामायण, महाभारत आदि इतिहास इसीके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं कि स्वयं परब्रह्म, परमात्मा, अयोध्याधीश, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रने भी अपनी उत्पत्ति यज्ञसे ही करायी। जिसके इच्छामात्रसे क्षणभरमें अनन्तकोटिब्रह्माण्डका उदय होता है, वह अखिलब्रह्माण्डनायक, पूर्णतम, पुरुषोत्तम परमात्मा भी यज्ञका महत्त्व बतलानेके लिए जब स्वयं यज्ञसे ही आविर्भूत हो रहा है, ऐसी अवस्थामें यज्ञक महत्त्वको देखें कि श्रीडा० साहबके उपदेशानुसार उसे ढोंग समझें ? पाठक इसका स्वयं ही विचार कर लें।

(५) कुमारिलकी स्वतन्त्रमति

कुमारिलने तो शास्त्रका प्रामाण्य स्थापन करनेके लिए ही अवतार ग्रहण किया था। "विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते ब्रवीति वितथं चेति" इस भाष्यग्रन्थकी व्याख्या करते हुए कुमारिलभट्टने 'श्लोकवार्तिक' में जिस विस्तृत

प्रकारसे शास्त्रोंका प्रामाण्य स्थापित किया है, वह वार्तिकग्रन्थाओंसे अविदित नहीं है।

अपौरुषेय होनेसे श्रुतिका स्वतन्त्र प्रामाण्य है। स्मृतिका "इयं स्मृतिः श्रुतिमूलिका, वेदमूलकतया वैदकैः परिगृहीतस्मृतित्वात्' मन्वादिस्मृतिवत्" इस अनुमानके द्वारा तन्मूलभूत श्रुतिका अनुमान करके तब प्रामाण्य माना जाता है। जहाँ प्रत्यक्ष श्रुतिका विरोध विद्यमान है, वहाँ स्मृतिके मूलभूत श्रुतिकी जिज्ञासा ही नहीं हो सकती, अतः वहाँ श्रुतिका अनुमान नहीं हो सकेगा। अतएव—श्रुतिमूलक न होनेसे—श्रुतिविरुद्ध स्मृतियोंका स्वरूपतः अप्रामाण्य है। कुमारिल कहते हैं कि किसी भी श्रुतिविरुद्ध आर्ष स्मृतिवचनका अप्रामाण्य माननेपर समस्त स्मृतिवचनोंमें अनाश्वास हो जायगा और नास्तिकों को हर-एक विषयमें सन्देह करनेका अवसर मिल जायगा। अतः श्रुतिविरोध होनेपर भी किसी शिष्टपरिगृहित आर्ष स्मृतिके भी वचनका स्वरूपतः अप्रामाण्य मानना ठीक नहीं, किन्तु उसका (श्रुतिविरुद्ध वचनका) जब तक मूलभूत प्रत्यक्ष श्रुतिवचन न मिले, तबतक अननुष्ठापकत्वलक्षण अप्रामाण्य मानकर तद्बोधित अनुष्ठान तो न किया जाय, परन्तु अनधिगताबाधितार्थबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य मानना ठीक नहीं है। सारांश, श्रुतिविरुद्ध केवल स्मृतिवचनके आधारपर अनुष्ठान न करना चाहिए, प्रत्यक्ष श्रुति या श्रुत्यविरुद्ध स्मृतिवचनके आधारपर ही अनुष्ठान उचित है। हाँ, जब प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्ध स्मृतिका आधारभूत भी कोई श्रुतिवचन मिल जाय, तब दोनोंका ही समबल होनेसे विकल्प पक्षका समाश्रयण करना उचित है।

तन्त्रवार्तिकमें बार-बार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष आते हैं, स्थूलदर्शी समझ नहीं सकते। इसीलिए वे असिद्धान्तको ही सिद्धान्त मान बैठते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थमें पहले भाष्यके अनुसार विषयवाक्य, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्षका उल्लेख है। तदन्तर वार्तिककारने अपने सिद्धान्तका प्रदर्शन किया है। वार्तिककार कहते हैं—"जो आर्ष धर्मग्रन्थ विप्रलम्भ, भ्रान्ति आदि मूलक नहीं हैं, किन्तु वेदमूलक ही हैं, उन्हींका निर्व्याज प्रामाण्य है और वे ही धर्मव्यवहारमें प्रमाण हो सकते हैं। अगर वेदविरुद्धत्व, विप्रलिप्सा आदि हेतुदर्शन, लोभ एवं किसी भी छल से उन आर्ष ग्रन्थों (स्मृतियों) का अप्रामाण्य कहा जायगा, तो हर एक स्मृतियोंमें अप्रामाण्यकी शङ्का हो जायगी, क्योंकि अनेक शाखावाले मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद और उसके श्रुति, लिङ्गादि अनेक भागोंके किस अंशसे इस स्मृतिका विरोध होगा यह जानना बहुत ही कठिन है। अतः अविश्वासके कारण स्मृतियोंका प्रामाण्य अत्यन्त प्रतिहत हो जायगा।

"कदाचिच्छ्रुतिमूलत्वं मुक्त्वा भ्रान्त्यादिमूलता।
स्मृतिभिः प्रतिपन्ना चेत् कस्तामिन्द्रोऽपि वारयेत्॥"

श्रुतिका विरोध न होनेपर स्मृतिका मूल श्रुति मानी जाय और विरोध होनेपर उसका मूल भ्रान्ति आदि माने जाँय, यह तो अर्ध वैशस होगा—अर्थात् एक ही धर्मसंहितामें कुछ अंश वेदानुकूल और कुछ अंश वेदप्रतिकूल मानने पड़ेंगे। ऐसी स्थितिमें पहले जिस स्मृतिकी भ्रान्त्यादि-मूलकताका निरास किया जा चुका है, उसीकी पुनः प्रसक्ति हो जायगी।

अतः या तो स्मृतियोंका श्रुतिमूलकत्व व्यवस्थित मानना चाहिए अथवा उनके प्रामाण्यकी तृष्णा छोड़नी चाहिए।

"अविरोधे श्रुतिर्मूलं न मूलान्तरसम्भवः।
विरोधे त्वन्यमूलत्वमिति स्याद्धर्मवैशसम् ॥
तेनाऽऽसां श्रुतिमूलत्वं सर्वदैव व्यवस्थितम्।
मूलान्तरप्रवेशे वा किन्तत्प्रमाण्यतृष्णया ॥"

यदि किसी लोभादि मूलके दर्शनसे अप्रामाण्यकी कल्पना करेंगे, तो ऐसे हेतुओंकी सर्वत्र उत्प्रेक्षा की जा सकती है, क्योंकि राग, द्वेष, भय, उन्माद, प्रमाद, आलस्य आदि की कल्पना कहाँ असम्भव है?

"गृह्यमाणनिमित्तत्वाद्यद्युपेताऽप्रमाणता ।
उत्प्रेक्षणीयहेतुत्वात् सा सर्वत्र प्रसज्यते ॥
रागद्वेषभयोन्मादप्रमादालस्यहेतुता ।
क्व वा नोत्प्रेक्षितुं शक्या स्मृत्यप्रामाण्यहेतवः ॥'

फिर ऐसी कौन-सी धर्मक्रिया हो सकती है, जिसमें कोई-न-कोई दृष्ट-हेतु न मिल सके, विरोध न हो। इसलिए तो चार्वाकोंके मतसे अदृष्टार्थक कर्म ही नहीं माने जाते। वैदिक कर्मोंको भी वे दृष्टार्थक ही समझते हैं, थोड़े भी निमित्तसे विरोध दिखलाते हैं। यदि मीमांसकोंने उनको थोड़ा भी अवकाश दिया, तो वे किसी भी धर्ममार्गको नहीं छोड़ेंगे। जबतक मर्कटोंको अवकाश नहीं मिलता, तभीतक वे चुप रहते हैं, अवकाश मिलते ही उनका भयङ्कर आक्रमण प्रारंभ हो जाता है। इसलिए धर्मनाशक लोकायत मतस्थोंका मनोरथ मीमांसकोंको कभी अभीष्ट नहीं है।

"का वा धर्मक्रिया यस्यां दृष्टो हेतुर्न युज्यते ।
कथञ्चिद्वा विरुद्धत्वं प्रत्यक्षं श्रुतिभिः सह ॥
लोकायतिकमूर्खाणां नैवाऽन्यत्कर्म विद्यते ।
यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद्दृष्टार्थं हि कुर्वते ॥
तेभ्यश्चेत् प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित् ।
न च कञ्चन मुञ्चेरन् धर्ममार्गं हि ते तदा ॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत्क्वचन मर्कटाः ।
नोपद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे ॥
तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम् ।
एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूरणम् ॥"

इसलिए जो पहले श्रद्धासे सिद्ध है और पश्चात् न्यायसे साधित हैं, ऐसे आज्ञासिद्ध प्रमाण पुराणादिको उसी रूपमें मानना चाहिए— उसके प्रामाण्यमें शैथिल्य न आना चाहिए। कहींपर किसी तरह से भी शैथिल्य आनेपर सभीका प्रामाण्य शिथिल हो जायगा।

"आज्ञासिद्धप्रमाणत्वं पुराणादिचतुष्टयम् ।
तत्तथैवाऽनुमन्तव्यं कर्तव्यं नान्तरा श्लथम् ॥"

दृष्ट हेतुमात्रसे अप्रामाण्य-कथन उचित नहीं, क्योंकि ऋत्विजों-का दक्षिणा-दान और परस्पर ऋत्विक्-यजमानका शपथग्रहण यह सब दृष्ट ही हेतु हैं। इतने मात्रसे इन कर्मोंमें अवैदिकता नहीं आ सकती, इसलिए पहले जो स्मार्त ज्ञानोंकी वेदमूलकता निर्वाहित की गयी है, उसको उसी रूपमें मानना चाहिए।

इसके बाद वार्तिककार भाष्यकारके पक्षका समर्थन करते हुए कहते हैं—'वेदके विरुद्ध जो भी स्मृति है और जिसकी मूल कोई स्पष्ट श्रुति नहीं है, उसे भ्रान्तिमूलक कहनेमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि स्मृति का स्वातन्त्र्येण प्रामाण्य है ही नहीं, उसके मूलभूत वेदवाक्यका अनुमान भी तभी किया जा सकता है, जब कि उस विषयमें प्रत्यक्ष श्रुतिका विरोध न मिले। हाथीके देख लेनेपर उसके पैरसे हाथीका अनुमान इष्ट नहीं होता। आनुमानिक पदार्थ तभीतक प्रस्फुरित होते हैं, जबतक प्रत्यक्ष शास्त्रसे उनका मूल नहीं कट जाता। मूल कटनेपर प्रस्फुरित होती हुई भी स्मृतियां निराधारत्व दोषसे उसी तरह दीर्घजीवी नहीं हो सकतीं, जैसे मूलके कट जानेपर शाखाएँ—

"तावदेव स्फुरन्त्यर्थाः पुरस्तादानुमानिकाः।
यावत्प्रत्यक्षशास्त्रेण मूलमेतन्न कृत्यते॥
कृत्तमूलाः स्फुरन्त्योऽपि स्मृतयो न चिरायुषः।
निराधारत्वदोषेण शाखा इव वनस्पतेः॥'

प्रत्यक्षसे प्रतिबन्ध होनेके कारण नैराकांक्ष्य होनेसे आनुमानिकी श्रुति स्मृतिका मूल नहीं बन सकती, भिन्न कक्षाके दो प्रमाण एक विषयमें प्रवृत्त हों तो भी शीघ्रगामीसे निर्णीत अर्थमें मन्दगामी प्रमाण अकिञ्चित्कर रहता है। हाँ, यदि शीघ्रगामी उस अर्थका अपहारक न हो, तो विलम्बसे पहुँचनेवाला मन्दगामी दुर्बल प्रमाण भी नहीं हटाया जा सकता। यह कोई ईश्वराज्ञा नहीं कि जिसका एक जगह प्रमाणत्व हो गया तो उसका सर्वत्र प्रमाणत्व ही रहे; उत्पन्न होते हुए सभी पदार्थ यदि किसी विरोधीसे रुद्ध न हों तो कालसे उनकी सिद्धि होती है। जिसकी

उत्पत्ति होनेके समय ही मूल कट जाय, या द्वार रुद्ध हो जाय, तो उसका आत्मलाभ हो ही नहीं सकता।'

अतएव उत्सर्ग और अपवाद सर्वत्र ही रहता है। जो सामान्य दर्शनसे सभी व्यवहार मानना चाहता है, उसे मृगतृष्णाजलसे भी प्यास बुझानी चाहिए या मृगतृष्णिका जलको बाधित देखकर सरोवरमें जाकर भी विप्रलम्भके भयसे स्नानादि न करना चाहिए। इसलिए मानना पड़ेगा कि जलज्ञानमें तभीतक प्रमाणता है, जबतक 'यह जल नहीं, मृगतृष्णा है' यह ज्ञान नहीं होता। इसी तरह अनुमान तभी तक अपने विषयमें प्रमाण है; जबतक प्रत्यक्षसे उसका अपहार नहीं होता। इसी तरह स्मृतिका भी तब तक ही प्रामाण्य है, जबतक श्रुति-विरोध नहीं होता। अतएव अविरुद्ध और विरुद्ध स्मृतिके प्रामाण्य और अप्रामाण्य होनेमें अर्धजरतीयन्याय आदिका अवकाश नहीं है।

इसके बाद बहुत-सी बातोंपर विचार करते २ वार्तिककारने यह भी कहा है कि यदि प्रथम श्रुतिका श्रवण न करके स्मृतिके आधारपर किसी अर्थका निर्णय हो गया, तो पश्चात् श्रूयमाण भी श्रुति उसी तरहसे बाधिका नहीं होती, जिस तरह गर्दभसे अपनीत विषयको बादमें आया हुआ अश्व नहीं ले जा सकता—

"न पश्चाच्छ्रूयमाणाऽपि श्रुतिः स्यात्प्रतिबन्धिका।
गर्दभेनापनीतं हि हरेन्नाश्वश्चिराद् गतः॥"

इसका भी समाधान अन्तमें इस प्रकार किया है कि 'स्मृतिसे विरुद्ध श्रुतिको देखकर पूर्वविज्ञानको भी मिथ्या समझता हुआ यह निश्चय कर लेता है कि वह स्मृति पहलेसे ही अप्रमाण थी। यदि कोई

अज्ञ कुछ सालतक कूटकार्षापण (नकली सिक्का) से व्यवहार चलाता रहा हो, तो भी विवेकज्ञान होने पर उसे वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए।'

"यो हि कूटकार्षापणेनाज्ञो लोकमध्ये व्यवहरति,
न तेन विवेकज्ञानजनितव्युत्पत्तिनाऽपि तथैव व्यवहर्तव्यम् ॥"

इसी प्रकार पूर्वोक्त पक्ष करते हुए भाष्यकारके मतसे "वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति," इत्यादि हेतुदर्शनसे वेदविरुद्ध स्मृतिका अप्रामाण्य कहकर स्वमतसे श्रुतिविरुद्ध स्मृतिकी भी भ्रान्त्यादिमूलकताका निराकरण किया है—

"स्मृतीनां श्रुतिमूलत्वे दृढे पूर्वनिरूपिते।
विरोधे सत्यपि ज्ञातुं शक्यं मूलान्तरं कथम् ॥"

अन्तमें वार्तिककार कहते हैं कि जैसे वेदोंका स्वरूप अध्यापकों द्वारा प्रकाशित होता है, वैसे ही शाखान्तरविप्रकीर्ण पुरुषान्तरप्रत्यक्ष पुरुषधर्मानुष्ठानक्रमेण अपनीत वेदवाक्योंका ही वेदसमाम्नायविनाशके भयसे स्वरूपसे उपन्यास न कर वचनान्तरसे अर्थोपनिबन्ध द्वारा महर्षियोंसे बनाई गयी स्मृतियोंका अनेक विषयोंमें प्रामाण्य मानना अनिवार्य ही है, तो उसी स्मृतिके एक वचनको अपस्मृति कहने या भ्रान्त्यादिमूलक कहनेमें हमारी जिह्वा प्रवृत्त नहीं होती—

"कठमैत्रायणीयादिपठितश्रुतिमूलिकाः।
दृश्यन्ते स्मृतयः सर्वाः भद्रोपनयनादिषु ॥
तदा तन्मध्यपात्येकं वाक्यं किञ्चिदपस्मृति।
मूलान्तरोद्भवं वक्तुं जिह्वा नो नः प्रवर्तते ॥"

जब कोई न्यायवित् किसी एक स्मृतिको बाधित कहता हो और उसी

समय शाखान्तरसे आगत उसी अर्थकी पोषिका श्रुति यदि मिल जाय, तो उस नैयायिक-मानीकी मुखच्छाया कैसी होगी ?

इन सबके अन्तमें भाष्यकारसे उद्धृत सभी श्रुतिविरुद्ध स्मृतियोंके मूलभूत शाखान्तरीय श्रुतिवचन उपस्थित कर वार्त्तिकार कहीं विरोधपरिहार और कहीं विकल्पकी व्यवस्था सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि भाष्यकारके ये उदाहरण श्रुतिमूलक होनेसे बाध्योदाहरण नहीं कहे जा सकते। वेष्टनमात्रका स्पर्श श्रुतिसे विरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। यदि बीचमें २,३ अंगुल छोड़कर औदुम्बरीका वेष्टन कर दिया जाय, तो स्पर्शके साथ वेष्टन भी बन जानेसे विरोध ही न रहेगा। इस सम्बन्धमें लोभकी कोई बात नहीं, क्योंकि उसकी सिद्धि प्रकारान्तरसे भी हो सकती थी। यदि स्त्रियोंके अन्तरीय और उत्तरीय के समान सुन्दर जातिके वस्त्रका उल्लेख होता, तो स्पर्शकी जगह छूट जानेपर भी लोभमें कमी न रहती—

"लोभमूलञ्च यत्तस्याः कल्प्यते सर्ववेष्टनम्।
तल्लोभः सुतरां सिद्ध्येत् मूलाग्रपरिधानयोः॥
अन्तरीयोत्तरीयेति योषितामिव वाससी।
स्मरेत् कौशेयजातीये नोद्गातैकं गुणैर्विना॥

आगे चलकर बौद्धादि स्मृतियोंको वेदविरुद्ध होनेसे वार्तिककार सबका ही अप्रमाण बतलाते हैं, जिनके कि डा० साहब परम भक्त हैं।

'शाक्यवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्जं सर्वाण्येव समस्त-चतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि। त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धा-दिभिः प्रणीतानि। इति न वेदमूलत्वेन संभाव्यन्ते।' बुद्धने अपने क्षात्र धर्मका उल्लंघन करके प्रवचन और प्रतिग्रहको स्वीकार कर लिया; फिर वह अविप्लुत धर्मका उपदेश करेंगे, इसमें क्या विश्वास ?

'धर्मार्थक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्ममविप्लवमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः ॥'

कहा है—

परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत्।
आत्मानं योऽभिसन्धत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥

परन्तु बुद्ध आदिने इस व्यतिक्रमको ही अलंकार समझा, आज भी ऐसे बहुतसे लोग हैं, जो लोकहितके लिए अपने धर्मका परित्याग गौरवकी बात मानते हैं।

डा० सा० कहते हैं कि शबरने कई जगह प्रसिद्ध स्मृतिके प्रसिद्ध श्लोकको अप्रामाणिक लिखा है। स्मृतिमप्रमाणीकृत्य भार्यादयो निर्धना इति स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वमन्याय्यमेव। यहां डा० सा० ने 'स्मृतिमप्रमाणीकृत्य' अपनी ओरसे जोड़ा है। ऋषि ही तो ठहरे, फिर क्यों न जोड़ें। और अत्यावश्यक अंशको छोड़ भी दिया है, शबरस्वामीका वचन ऐसा है—'भार्यादयो निर्धना इति स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वमन्याय्यमेव, श्रुतिविरोधात्। तस्माद् स्वातन्त्र्यमनेन प्रकरणेनोच्यते संव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थम् ॥' तात्पर्य यह है कि यज्ञमें स्त्री, पुरुष दोनोंका ही समानाधिकार सिद्ध करके "द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्" इत्यादि सूत्रसे यह विचार किया है कि कर्मोंमें द्रव्यकी आवश्यकता होती है, पुरुष द्रव्यवान् होता है, अतः उसका अधिकार तो ठीक है, परन्तु स्त्री "भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धनाः सर्व एव ते" इत्यादि वचनोंके अनुसार धनविहीन है; अतः उसका अधिकार कैसा ? यह प्रश्न उठता है, इसपर यह कहा गया कि

'स्वर्गकामो यजेत्', यहां पर पुंस्त्व विवक्षित न होनेसे जब स्त्रीके लिए भी, फलार्थिनी होनेपर, यज्ञ विहित है, तब स्मृतिके अनुसार 'स्त्री निर्धना' कैसे हो सकती है। स्मृतिसे श्रुतिका बाध नहीं हो सकता। अतः फलार्थिनी स्त्री, स्मृतिको अप्रमाण करके, द्रव्य ग्रहण करेगी और यज्ञ भी करेगी। यहींका 'स्मृतिमप्रमाणीकृत्य' अंश डा० साहबने 'भानुमति कुनबे' की तरह पहले वाक्यमें जोड़ दिया है। इसलिए भार्यादि निर्धन हैं, यह स्मर्यमाण निर्धनत्व श्रुतिविरुद्ध होनेसे अन्याय्य है। परन्तु इतनेसे ही भाष्यकार उस स्मृतिको अप्रमाण कहकर छोड़ नहीं देते। अपितु 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमहर्ति', इस मनुवचनके साथ 'भार्यादासश्च' इस वचनका समन्वय करके यह तात्पर्य निकालते हैं कि भार्यादि स्वतन्त्र धनवाले नहीं। इसी तरह व्यवहारसिद्धि होगी। एतावता स्मृतिके अप्रामाण्यका मतलब स्मृतिके यथाश्रुत अर्थमें अप्रामाण्य है। समन्वयके अनुसार भार्यादि स्वतन्त्र धन वाले नहीं हैं, इस तात्पर्यार्थमें तो स्मृतिका प्रामाण्य है ही। 'विरुद्धा च विगीता च' इत्यादि मेधातिथीका उद्धृत श्लोक भी बौद्धादि स्मृतियोंके ही अप्रामाण्यमें तात्पर्य रखता है।

आगे चलकर डा० सा० कहते हैं—

"ततश्च भाष्यकारेण यदिहोक्तमचिन्तितम्।
वाक्यभङ्ग्यन्तरं तत्र कर्त्तव्योऽस्तीव नाऽऽदरः॥"

यह वाक्य १-३-६ में है, यह अत्यन्त अशुद्ध है। उक्त वाक्य ३—१—७ में है। इस श्लोकसे भाष्यकारका खण्डन भी नहीं किया है, जैसा कि श्रीडा० साहब लिखते हैं। 'इमाम-गृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' यहाँपर भाष्यकारके

लेखसे प्रतीत होता है कि वे मन्त्रका लिङ्गसे सम्बन्ध मानते हैं। वार्तिककार मन्त्रका सम्बन्ध श्रुतिसे मानते हैं, क्योंकि 'इति अश्वाभिधानीमादत्ते' यहाँपर मन्त्रविशिष्ट आदानका विधान है। भाष्यकारने परिसंख्यासूत्रके भाष्यमें लिखा है कि मन्त्र और अश्वाभिधानीका सम्बन्ध है, मन्त्र और आदानका नहीं। इसपर वार्तिककार भाष्यका अपने मतमें समन्वय करते हैं कि मन्त्रविशिष्ट अश्वाभिधानीका आदान-विधान होनेपर पीछे होनेवाला मन्त्र और अश्वाभिधानीका सम्बन्ध भाष्यकार कह रहे हैं। 'मन्त्रका आदानके साथ सम्बन्ध नहीं है' यह जो भाष्यकार लिखते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि विशिष्ट आदानके साथ मन्त्रका सम्बन्ध है, शुद्ध आदानके साथ नहीं। इस भावको मनमें रख करके ही वार्तिककारने "ततश्च भाष्यकारेण' यह लिखा है। इसके समझनेके लिए किसी मीमांसक गुरुकी शरण लेनी होगी? परिसंख्यासूत्रपर जो भाष्यकारने लिखा है, उसका यथाश्रुत अर्थ नहीं समझना चाहिए, किन्तु वाक्यको उलट फेरकर यही अर्थ समझना चाहिए, क्योंकि यही अर्थ युक्तियुक्त है। मीमांसा विचारशास्त्र है, इसमें जिसका विचार प्रौढ़ होगा, उसीका विचार सत्य समझा जायगा। विचारकी सत्यता केवल श्रद्धासे नहीं होती।

ऐसी अवस्थामें डा० सा० कहते हैं कि "कुमारिल बड़े स्वतन्त्र विचारके स्पष्टवक्ता थे, उन्होंने उत्तर भारत और दक्षिण भारतके अनाचारोंकी सूची लिख दी है। ऋत्विक पुरोहितोंके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा है कि यजमानोंको फँसा कर फिर उसमें शाखा-प्रशाखा निकालते हुए कर्मकाण्डके विधिप्रयोगमें कर्मोंकी परम्पराको बढ़ाते ही चले जाते

है। और पद-पद पर दक्षिणा मांगते और लेते चलते हैं तथा अपने मनसे अपने मतलबकी श्रुति-स्मृतियाँ गढ़ते रहते हैं। 'लोभपूर्वकत्व-कल्पनमेवोपपन्नमिति निर्गमात्संदेहनिवृत्तिः।' (त० वा० १-३-४,) वस्तुतः यह सब डा० सा० का अनर्गल प्रलाप है, तन्त्रवार्त्तिककारका अभिप्राय नहीं है। हां, श्रुति-स्मृति-विरुद्ध किसी भी देश या व्यक्तिका आचरण अनादरणीय है। यह उनको और सब वैदिकोंको भी मान्य ही है। भट्टपादके अभिप्रायको न समझ कर उनके अनभिमत वचनोंके आधार पर डा० उनके माथे स्मृति न माननेका दोष मढ़ते हैं।

वस्तुतः स्मृत्यधिकारणमें इस सम्बन्धमें इस तरह विचार उठा है कि 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' (उदुम्बरकी शाखाको वस्त्रसे वेष्टन करना चाहिए) इत्यादि स्मृतियोंका 'औदुम्बरी स्पृष्ट्वोद्गायेत्' (औदुम्बरी शाखाका स्पर्श करके उद्गाता सामगान करे) इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध होता है, क्योंकि यदि औदुम्बरीका वस्त्रवेष्टन कर देंगे ता स्पर्श नहीं बन सकेगा। इत्यादि शंका कर पूर्वोक्त समाधान कर दिया और जरा भी वैषम्य न आने दिया।

डा० सा० कहते हैं—हमको भी शास्त्रमें श्रद्धा है पर उनकी श्रद्धा उनके लेखसे टपक पड़ती है। डा० सा० जैमिनीके मीमांसासूत्रोंके सम्बन्धमें कहते हैं कि यह धर्मशास्त्रका प्रधान ग्रन्थ है। 'शाबर भाष्य' श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्त्तिक, टुप्टीका आदिकी भी चर्चा करते हैं, परन्तु जिस तरह विट्भुक् कृमि सर्वत्र विट्को ही ढूंढता है, इसी तरह परमास्तिकतापूर्ण ग्रन्थमें भाग्यानुसार डा० को नास्तिकता ही मिली। आपकी दृष्टिमें स्मृति, शास्त्र, भाष्य आदि शास्त्रों एवं पूर्वजोंका खण्डन करनेवाले

उच्छृङ्खल ही बुद्धिमान् होते हैं। इसलिए मीमांसामें भी अपने भावानुसार वस्तु ढूँढ निकाली। वस्तुतः ऐसे महानुभावोंको शास्त्रकी पंक्तियाँ तो लगती नहीं, फिर अभिप्रायज्ञान कैसे हो। पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सिद्धान्त आदि भी इनके समझसे परे हैं, इन्हीं सब कारणोंसे डा० कुछ पूर्वपक्षकी बातोंको अनभिज्ञताके कारणसे योजनेका प्रयत्न करते हैं।

जिस मीमांसाको शास्त्र मानकर उसमें आस्था करते हैं, उसमें का दूसरा ही सूत्र है—'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' जिसका अर्थ यह है कि वैदिक प्रवर्तक निर्वतक वाक्योंसे ही अवगत होनेवाला अग्निहोत्र आदि अर्थ धर्म है। जैसे रूपका बोध चक्षुसे ही होता है, अन्य से नहीं, वैसे ही धर्मका बोध वेदादि शास्त्रोंसे ही होता है, अन्यसे नहीं। इसी तरह जैसे निर्दोष चक्षुसे रूपका ज्ञान अवश्य ही होता है, वैसे ही वेद आदि शास्त्रों के विचार से साधन सम्पन्न पुरुषको धर्माधर्मका बोध अवश्य होता है। इसीलिए ऐसे स्थलोंमें अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेदकी प्रतीतिके लिए दो एवकारका आवृत्या प्रयोग किया जाता है।

डा० जिस प्रत्यक्षको चिल्ला चिल्लाकर शास्त्रसे बलवान् बतलाते हैं, उस प्रत्यक्षको जैमिनी कहते हैं कि धर्ममें प्रमाण नहीं है। "तत् प्रत्यक्षमनिमित्तम्", 'तस्य ज्ञानमुपदेशः' इत्यादि। शबरस्वामी भी वैदिक उपदेशको ही धर्ममें प्रमाण बतलाते हैं—'शास्त्रज्ञानतिशङ्क्यं पितृमातृवचनादपि प्रमाणकरम्' इत्यादि वार्त्तिककार भी उपर्युक्त बातका ही समर्थन करते हैं। उपर्युक्त उद्धरणोंसे पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि कुमारिलकी स्वतन्त्रमति शास्त्रोंसे जकड़ी हुई थी या उनमें उच्छृङ्खल थी। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

———

परिशिष्ट

"विश्वमित्र" २४ अप्रैल ४४

बड़ी जीमनवारके विरोधमें बिड़लाजी

श्रीघनश्यामदासजी बिड़लाने बड़ी जीमनवारके विरोधमें निम्न अभिमत प्रकट किया है—

8 Royal Exchange Place
कलकत्ता १-४-४४

प्रिय लाठजी !

आपका पत्र मिला। जीमनवारके सम्बन्धमें लेखकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। जो चीज स्वयं स्पष्ट हो, उसके सम्बधमें लेख क्या ? ऐसी बातके लिए भी यदि हमें अपने आदमियोंको समझाना पड़ेगा, तब तो समाजकी इतिश्री हो गयी। मेरा ख्याल है कि ऐसी जीमनवार अब बिलकुल बन्द करनी ही चाहिए। और चूँकि अब तो गवर्नमेण्टने भी ५० आदमियोंका नियम बना दिया है, हम लोगोंको चाहिए कि इस नियमका जबरन पालन करायें। आवश्यकता हो तो पुलिसकी भी सहायता लेनी चाहिए। साधारण समयमें यदि कोई आदमी बड़ी जीमनवार करे तो उसे हम बर्दाश्त भी कर सकते हैं, किन्तु जब लाखों आदमी मर रहे हों उस समय बड़ी जीमनवार करना या धर्मके नाम पर यज्ञ करके अन्न और घीको जलाना, यह बड़ा पाप है और इसका हमें पूरा विरोध करना चाहिए।

आपका
घनश्यामदास बिड़ला।

[पत्र नं० १]

काशी २९ अप्रैल १९४४

प्रिय बिडलाजी, सादर सम्मान,

२४ अप्रैल के 'विश्वमित्र' में निकला हुआ आपका लेख मेरे सम्मुख है, इसी विषयमें कुछ कहनेके हेतु आज पत्र लिख रहा हूँ। इसके पूर्व कभी मैंने आपको पत्र दिया हो, ऐसा स्मरण नहीं है......

आपके लेखमें "धर्मके नाम पर यज्ञ करके अन्न और घी जलाना यह बड़ा पाप है" इस वाक्यने मेरे हृदय पर चोट पहुँचायी है। हम लोग व्यापारी हैं, 'सत्यानृते तु वाणिज्यम्' इतना ही नहीं, इस समय तो केवल अनृत ही रह गया है। हम लोगोंकी मनोवृत्ति हर समय धन, ऐश्वर्यादिमें उन्मत्त रहती है। अपनेको लाभ हो जाय, चाहे दूसरा भाई जहन्नुममें जाय। हजारों परिवारोंको दरिद्र बनाकर हम लोग धनी हुए हैं। पाप-पुण्यकी पहचान बड़ी कठिन है। सदा एकान्तमें वास करनेवाले योगीन्द्र मुनीन्द्र, भगवत्परायण महापुरुष भी 'यह धर्म है और यह अधर्म है' सहसा निर्णय करनेमें सङ्कुचित होते हैं। एकवस्त्रा, पतिपरायणा द्रौपदीके चीरहरण जैसे बीभत्स कृत्यके सम्बन्धमें भी 'धर्म-प्रतिकूल है' यह सहसा नहीं कहा जाता। फिर हम लोग औत्सुक्यवश 'यह पाप है' ऐसा यदि कहें, तो बड़ी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले रहे हैं। 'वह कर्म पाप है या नहीं' इसका निर्णय तो निर्णायक ही करेंगे। अनधिकार चेष्टा करनेसे हम लोग भयङ्कर पापसे मुक्त नहीं हो सकते। और फिर समाजमें हमारी बातों पर श्रद्धा करनेवाले जो भाई हैं, वे भी 'पाप है, पाप है' ऐसा कहेंगे ही, तो उन सबकी जिम्मेदारी हमने अपने ऊपर

लेकर कितना घोर अपराध किया—(यह लिखना) लेखनीके बाहर है। धर्मसङ्घके द्वारा दिल्ली, कानपुरमें हुए यज्ञ आपको रुचिकर नहीं, किन्तु वहाँ लाखों भाई बड़े कष्ट सहकर सम्मिलित हुए, क्या (वे) सभी मूर्ख हो सकते हैं? इस समय भारतवर्षमें जो महानुभाव इस यज्ञके प्रवर्तक हैं, जिनके विषयमें अपने निजी स्वार्थकी कल्पना कोई कर भी नहीं सकता, वे ही लोग धर्मके तत्त्वको जानें। धार्मिक विषयमें हम लोग अपना मत ऐसे लोगोंके प्रतिकूल रखें तो इन्हें कोई हानि नहीं, हम अपना पतन कर रहे हैं—इसमें सन्देह नहीं।

भगवत्कृपासे हमारी जातिमें आप एक मान्य पुरुष हैं, एकताके पक्षपाती हैं, हिन्दू हैं, फिर हिन्दू धर्मका आश्रयभूत वेद, स्मृति और धर्मशास्त्रके विरुद्ध क्या सोचकर अपनी आवाज उठाते हैं? यज्ञका प्रतिपादन तो 'आर्य-समाजी' भाई भी करते हैं। नित्य अग्निहोत्रका वे लोग बड़े बलसे प्रचार करते हैं, मृत्यु होने पर कई कनस्तर (टीन) घी शवके साथ जला देते हैं। भगवद्गीताका इस समय प्रचार अधिक है, उसको भी देखें तो "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा·····" "नाऽयं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः········"(यज्ञका महत्त्व ज्ञात होगा)।'

(जब) आपके यहाँसे अनेक स्कूल, पाठशाला, सत्र, धर्मशाला, कूप आदि निर्माण हुए हैं, अनेक अबलाओंका पोषण हो रहा है, अनेक मन्दिरोंका निर्माण, पुनरुद्धार हो रहे हैं, (तब) आपके मुखसे यज्ञ-सदृश धर्म-कार्यमें ऐसे वचन निकलना आश्चर्योत्पादक है! स्मरण रहे (कि) दूसरे २ कार्योंमें सन्देह हो सकता है, दाताके अन्तर्भावके अनुसार और उनको भोगनेवाले पुरुष किस वृत्तिके तैयार हो रहे हैं; दोनोंके

वृत्तिके अनुसार पुण्य-पापकी व्याख्या हो सकती है, किन्तु वे दोनों यज्ञमें वेद-मन्त्रोंको उच्चारण करते हुए भगवान् अग्निदेवके मुखमें जो आहुति दी जाती है, उसमें तो पापकी कल्पना हो ही नहीं सकती। ऐसे पुण्यमय कार्य पर आपकी विपरीत लेखनीसे चित्त दुःखित है।

आपको बहुत कार्य रहते होंगे। लेख बढ़ रहा है, इसलिए यहीं रोक देता हूँ। और प्रतीक्षा करता हूँ कि आपको मेरी बात कैसी जँची ? इसे समझूं। यदि ठीक जँची हो, तो आप क्या प्रायश्चित्त करते हैं—यह देखूँ।

आपका

गौरीशङ्कर गोयनका

[पत्र नं० २]

8 Royal Exchange Place

कलकत्ता, २-५-४४

प्रिय गोयनकाजी,

जब श्रीलाठजीको मैंने पत्र लिखा था, तब मुझे खयाल भी न था कि अनजानमें मैं वाद-विवादमें फँस जाऊँगा। मैं वाद विवादसे प्रायः दूर भागता हूँ। पर इसबार तो अनायास ही मैं इसमें फँस गया। और इसलिए आपको उत्तर भी देना होगा—यद्यपि मैं जानता हूँ कि इससे आपको सन्तोष न होगा। आपको चोट पहुँची, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ—पर लाचारी है। हर मनुष्यकी कुछ जिम्मेदारी बन जाती है। मेरी भी कुछ अपने आप बन गयी। जिम्मेदार व्यक्ति किसीके चित्तके आहत होनेके भयसे मूक रहे, तो कर्तव्य-च्युत होता है। इसलिए मैंने

जो भी कुछ कहा है, वह कर्तव्य मानकर कहा है। लाचारी मानकर आप क्षमा करें। यद्यपि इस विषम समयमें जब लाखों प्राणी भूख से मर रहे हों, तब लोगोंको अन्न जलाते देखकर मुझे भी चोट तो पहुँची। पर यह तो आपके लिए अप्रस्तुत है।

मुझे धर्मकी विवेचना करनेका क्या अधिकार ? यह आंशिक ही सही है। साधारणसे साधारण मनुष्यको भी तो अपनी राय कहनेका अधिकार है ही। जिनको मेरी राय रुचिकर न होगी, वे क्यों मानेंगे ? और फिर "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" इस दृष्टिसे विवेचना करनेका अधिकार सब ही को है, तो फिर मैं वंचित क्यों ?

आपने शास्त्रोंका जिक्र किया है, पर मेरे और आपके दृष्टिकोणमें इतना अन्तर है कि जिस दृष्टिसे आपने शास्त्र पढ़े हैं, उस दृष्टिसे मैंने नहीं पढ़े हैं। मैं संस्कृतका विद्वान् न होकर भी जब कहता हूँ कि मैंने शास्त्र पढ़े हैं, तो आप इसे अभिमान न मानें। शास्त्र पढ़नेमें प्रधान कारण मेरी श्रद्धा है। और शास्त्रोंसे मैंने काफी लाभ भी उठाया है।

मेरा शास्त्रका अध्ययन मुझे यह सिखाता है कि मैं शास्त्रको पढ़ते समय अपने विवेक द्वारा उसका यथार्थ अर्थ समझूँ। समय समय पर ऋषि मुनियोंने समयकी आवश्यकताको सामने रख कर शास्त्र-निर्माण किये और विधि-निषेध कायम किये। वे विधि-निषेध देश, काल और अवस्थासे अवाधित नहीं हैं। द्रौपदीके पाँच पतियोंकी व्यासजीने पुष्टी की और यज्ञमें बलिदान जायज माना। नियोग भी जायज माना। और जो इन चीजोंको आज भी निषेध मानेंगे, वे शास्त्रोंको समझनेमें भारी भूल करेंगे। जो शाश्वत धर्म हैं—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा

इत्यादि—वे ही काल और अवस्थासे मुक्त हैं। यज्ञ करना इत्यादि जो क्रियाएँ हैं, वे शाश्वत धर्म नहीं हैं। खैर! यह तो शास्त्रोंकी मेरी साधारण व्याख्या हुई।

पर क्या मुझे सत्य बोलना चाहिए या नहीं, इसके लिए भी शास्त्रोंके पन्ने उलटूँ? लाखों प्राणी अन्नके अभावसे मर रहे हैं और यज्ञकर्ता लोग देवताओंको हवि देनेके नाम पर अन्न और घी जला डालें यह धर्म है या नहीं, इसके लिए शास्त्रकी शरण लूँ? और अपनी विवेक-बुद्धिको तिलाञ्जलि दे डालूँ? शास्त्रने मुझे यह नहीं सिखाया कि मैं अन्धविश्वासी तथा विवेक-हीन बन जाऊँ। यज्ञकी अग्निके बजाय, मनुष्योंके शरीरोंको अन्न घी की ज्यादा जरूरत है, यह तो साधारण मनुष्य भी जानता है। इसमें शास्त्र क्या कहेंगे? विवेकके विरुद्ध जो शास्त्र किसी सिद्धान्तका पोषण करता है, वह अमान्य है—यह भी शास्त्र ही हमें सिखाता है। यज्ञमें पशुओंकी बलिका विरोध बुद्ध भगवान्ने किया, तब धर्मके नाम पर काफी विरोध हुआ; पर अन्तमें विवेककी जीत हुई। शास्त्रोंमें सैकड़ों वचन ऐसे मिलेंगे, जो त्याज्य हैं। किसी जमानेमें चाहे ग्राह्य रहे हों। शास्त्रोंके कई अवतरण मैं आपको दे सकता हूँ, जो आप स्वीकार नहीं करेंगे।

आर्य लोग स्वतन्त्र विचारके रहे और जब तक तर्कके बल पर चले, आर्य जाति जीवित रही। हजारों वर्षोंमें समय-समय पर नये-नये विचार-सिद्धान्त बनते गये। जबसे हम अन्ध-विश्वासी बने, तबसे शास्त्रोंकी प्रगति रुक गयी। अब उन प्रगतिशील ऋषियोंकी हम ऐसी अकर्मण्य सन्तान हैं कि हमारे पास सिवाय शास्त्रकी दुहाई देनेके और

कुछ भी न रहा। हम विवेकको तो स्थान ही देना नहीं चाहते। विधर्मी उच्च, स्वधर्मी अन्त्यज नीच। पुरुष बुढ़ापेमें भी शादी कर सकता है, पर १२ सालकी भी नन्हीं विधवा शादी करे तो अधर्म। यह तो थोड़ी-सी मिसाले हैं। और भी देसकता हूँ। यह न शास्त्र हैं, न हिन्दू धर्म है।

आपने लिखा कि कानपुर और दिल्लीमें यज्ञमें लाखों भाई सम्मिलित हुए, क्या वे सभी मूर्ख हो सकते हैं? तो फिर ऐसा भी आप क्यों न कहें कि करोड़ों आदमी शराब पीते हैं, वे क्या मूर्ख हैं? महज किसी कामको लाखों, करोड़ों आदमी करते हैं, उससे कोई चीज धर्म नहीं बन जाती।

आपने लिखा है कि मैंने हिन्दू शास्त्रके विरुद्ध आवाज उठाई है। यह सही नहीं है। जो आज खाद्य वस्तुओंको जलाते हैं या हिन्दुओंमें प्रचलित कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों को बढ़ाते हैं, वे हिन्दू समाजको और हिन्दू शास्त्रका अनजाने अहित कर रहे हैं।

आपने गीताकथित यज्ञका अर्थ घी होमना करके तो मुझे आश्चर्यमें डाल दिया है। गीताकथित यज्ञका अर्थ तो निष्काम कर्म इन्द्रियदमन इत्यादि है। घी जलाना भी कभी यज्ञ रहा होगा। साधारण समय में लोग अपनी भावनाको पुष्ट करने के लिए घी होमें तो होमें। पर आज जब लाखों आदमी भूख से मर रहे हों उस समय खाद्य वस्तुओं का जलाना—यह कैसा यज्ञ?

पाप-पुण्यकी सबसे बड़ी पहिचान मेरी यह है कि जिससे प्राणियोंकी सेवा हो, वह पुण्य है और जिससे प्राणियोंका अहित हो, वह पाप है।

आपका
घनश्यामदास

[पत्र नं० ३]

काशी ७ मई १९४४

प्रिय विडलाजी, सादर हरिस्मरण !

ता० २-५-४४ का लिखा हुआ आपका पत्र प्राप्त हुआ, प्रसन्नता हुई। आपने लिखा 'मैं वाद विवाद से प्रायः दूर भागता हूँ', फिर आगे चलकर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' आप लिख रहे हैं, इससे तो यही बोध होता है, जिस बातसे तत्त्वबोध हो, पदार्थ निर्णय हो, उसे आप पसन्द करते हैं, और करना भी चाहिए, दूर भागने की बात क्या है, आपने अपनी विवेक बुद्धिसे सत्यका प्रतिपादन किया है, यह आनन्दका विषय है, साधन चतुष्टयमें विवेक प्रथम सीढ़ी है, बिना विवेकके तो मनुष्य अधिकारी ही नहीं होता, विवेकके पश्चात् ही वैराग्य आदि क्रमशः आते हैं, विवेकहीन पुरुष तो पशुसे भी गिरा हुआ है। प्रत्येक सिद्धान्तको विवेककी कसौटी पर कसना चाहिए, किन्तु विवेक ठीक होना चाहिए। यदि अविवेकको भ्रमसे बुद्धि-विवेक समझ बैठे और तदनुकूल कार्यमें प्रवृत्त हो जाय, तो अनर्थ ही अनर्थ है। विवेकके विरुद्ध जो शास्त्र किसी सिद्धान्तका पोषण करता है', यह कैसे संभव है। अपने अविवेकसे शास्त्र-सम्मत सिद्धान्तोंको नहीं समझ कर हम लोग अमान्य ठहरा दें, यह सम्भव है। शास्त्रीय सिद्धान्तोंको समझनेके लिए सतर्क होना चाहिए। आपाततः प्रतीयमान विरुद्ध वाक्योंका निर्णय करनेकी भी शास्त्रीय पद्धति है, उसी विचारधारासे शास्त्रीय सिद्धान्त समझना होगा। अपने मनमाने ढंगसे नहीं।

"मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥"

केवल अपने विवेकसे तो भगवन्नामकीर्तनादि भी कर्तव्य नहीं ठहर सकते। शास्त्र पर विश्वास करके ही हम लोग ऐसे कल्याणकारक कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। लाखों प्राणी जब भूखसे मर रहे हैं, ऐसे समय हवनादिसे अन्न घृतका दुरुपायोग आप मानते हैं; किन्तु शास्त्र ऐसे ही कठिन समयमें ऐसे ऐसे यज्ञोंका प्रतिपादन करता है, उन सर्वज्ञ महर्षियोंकी बात ठीक समझें या आपके। ऐसे समय यज्ञ आदिका खण्डन कहीं शास्त्रमें किया हो तो कृपया बताइए। यदि नहीं तो फिर जैसे अकालमें खेत बोते समय महीमें गोधूम आदि बखेरते हुए देख कर कोई अबोध बालक कहे—मेरे पिता अन्याय कर रहे हैं, उस बालकको अज्ञानताके कारण चोट पहुँचे तो उसका क्या उपाय है? आज भी मैं देख रहा हूँ—श्रद्धेय श्रीशिवप्रसादजी गुप्तके देहावसानके समय कई कनस्तर घृतसे आहुति दी गयी थी। बक्सरमें महात्माजीके आरोग्यार्थ यज्ञ (वही यज्ञ अग्नि में होम करनेवाला) हुआ है, क्या उसे भी आप महापाप कहेंगे? आपने लिखा कि जिनको मेरी राय रुचिकर न होगी, वे न मानेंगे? सो अनुभव इसमें दूसरा है। मैं तो देखता हूँ अर्थ सम्बन्ध ऐसा विचित्र है कि वह अपने भावोंको केवल दबा ही नहीं देता, किन्तु जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन हम नहीं चाहते, मोहवश करा देता है। अपनी आजीविका के लिए सभी कुछ करना पड़ता है। वास्तव में हम लोगोंके पास हमें सत्य मार्ग बतानेवाले आते ही कौन हैं?

'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।'

सत्यको अन्वेषण करने की यदि हमारी भावना ठीक है, तो ऐसे निःस्पृही वीतराग महात्माओंको क्लेश पाकर स्वयं खोजना होगा और आत्मकल्याण सम्बन्धी प्रश्न करना होगा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह योग शास्त्रोक्त 'यम' कहे गये हैं, सामान्य धर्म हैं अर्थात् मनुष्यमात्रको यह मान्य है, कर्तव्य है—इसमें सन्देह नहीं। आपने इन्हें शाश्वत शब्दसे प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ कि यह आपका शाश्वत शब्द मेरे सामान्य शब्द से भिन्नार्थक नहीं होगा। यदि हो तो अवश्य लिखिएगा। हम लोग मनुष्य हैं, भारतवासी हैं, हिन्दू हैं, वैश्य हैं, सनातनधर्मी हैं, सामान्यधर्म मनुष्यके नाते होना चाहिए। उससे विशेष भारतवासीके नाते, उससे विशेष हिन्दू होनेके नाते, उससे विशेष वैश्यके नाते, उससे विशेष सनातन धर्मी होनेके नाते''। इस विषयमें आप जिस बातको नहीं मानते हो, कृपया लिखिए। यदि आपका और मेरा ऐकमत्य हो, तो वेद, स्मृति, पुराणों से प्रतिपादित जो मार्ग हमारे लिए ठहरे हमें मानना चाहिए।

जिस यज्ञको आप बड़ा पाप कहते हैं, वह बड़ा पाप किस शास्त्रमें किस प्रकार वर्णित है, कृपया लिखिए। भगवान् बुद्धदेवका जिक्र आपने अपने पत्रमें उनकी विजय हुई लिख कर किया, किन्तु यह विजय कितने काल तक स्थिर रही? इतिहास बताता है कि भगवान् शङ्करार्यजीने अवतीर्ण होकर बौद्धधर्मको परास्त कर वैदिक धर्मका ऐसा प्रतिष्ठापन किया कि भारतवर्षमें बौद्ध रह न सके। शास्त्रविरुद्धमत कभी चिरस्थायी रह ही नहीं सकता। वह उस समय अच्छा लगता हो, यह दूसरी बात है। माघके महीनेमें चन्द्रग्रहणके समय रजाई छोड़कर रात्रिमें गङ्गा-

स्नान करना बहुत बुरा लगता है। प्रत्यक्षमें अथवा आजकल विदेशी शिक्षासे शिक्षित पुरुषोंके मतमें चन्द्रग्रहणमें स्नानादि करना उनके विवेक सम्मत यदि नहीं भी हों, तो भी शास्त्र पर श्रद्धा रखनेवाले लाखों प्राणियोंके विवेक सम्मत है और वे उन्हें श्रद्धापूर्वक करते हैं। आप उन्हें कैसा समझेंगे ? आपने अपने पत्रमें लाखोंक-रोड़ों प्राणी शराब पीनेवालोंका दृष्टान्त बड़ा मजेदार दिया। मद्य पीना भी शास्त्रसङ्गत है क्या ? यदि आपने कहीं देखा हो, तो अवश्य लिखिए। आपके इस दृष्टान्तसे मैंने यहीं लिया कि आपकी सम्मतिमें लाखों अज्ञोंकी सम्मतिका मूल्य नहीं है। तत्वज्ञ थोड़े भी हों, फिर भी उनकी सम्मतिका मूल्य है ? यदि ऐसा ही है तो सर्वथा मान्य है। अन्यथा यज्ञके उदाहरणमें मद्यका दृष्टान्त तो परिहासास्पद ही है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें यज्ञके विषयमें आये हुए श्लोकोंके लिए लिखा कि आपने गीताकथित यज्ञका अर्थ 'घी होमना' करके तो मुझे आश्चर्यमें डाल दिया है। यह अर्थ आप मेरा मान रहे हैं, आश्चर्य है ! 'अन्नाद् भवति' के अनेक संस्कृत भाष्य मैंने इसी समय देखे और महात्मा तिलककृत 'गीतारहस्य' भी देखा। सबने एक मतसे अग्निमें हवन करना ही अर्थ किया है। श्लोक १६में 'एवं प्रवर्तितं चक्रम्' में यज्ञ नहीं करने वालोंकी निन्दा की है। फिर आगे चलकर चतुर्थ अध्यायमें अनेक प्रकारके यज्ञ वर्णन किए हैं—'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः।......'। वहाँ सबसे श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ बताया है। वह ज्ञानयज्ञ क्या है ?—

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (गी० ४।२४)

इसका महात्मा तिलककी हिन्दीका अर्थ ही उन्हींके अनुवादक महोदय के शब्दों में लिखता हूँ 'अर्पण अर्थात् हवन करनेकी क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करनेका द्रव्य ब्रह्म है। ब्रह्माग्निमें ब्रह्मने हवन किया है। (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिमें (सभी) कर्म ब्रह्ममय हैं, उसे ब्रह्म ही मिलता है।' अब जरा विवेककी कसौटीपर कसिए, किसी बालकके शौर्य-क्रौर्य आदि गुणोंको देखकर सिंहकी उपमा दी जाती है। 'सिंहो माणवकः' बालक उपमेय है, उपमान सिंह है, उपमानमें उपमयमें से अधिकता निश्चयसे स्वीकार करनी ही होगी। गीता में ज्ञानकी प्रशंसा में ज्ञानको यज्ञ कहा है, तब अग्नि और हवि आदिकी कल्पना करनी पड़ी। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानयज्ञ गौणयज्ञ है, मुख्य यज्ञ वही है जो प्रत्यक्ष अग्निमें वेद मन्त्रोंसे आहुति दी जाय। आपके लिखे निष्काम कर्म और इन्द्रियदमन आदि भी गौण यज्ञ कहे हैं। सबसे श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ हैं, किन्तु उस यज्ञको उपमान ही बनाया है, जिसे आप महापाप कहते हैं।

अन्तमें पाप-पुण्यकी व्याख्या आप जो करते 'प्राणियोंकी सेवा हैं हो वह पुण्य है, प्राणियोंका अहित ही पाप है' यह तो महर्षि व्यासजीके बचन हैं, सर्वथा मान्य हैं। इसके विवेचनमें भी हम लोगोंको विचार करना है। शत्रु भी प्राणी है, क्या उसका हित कभी अभीष्ट हो सकता है। विदेशी भी प्राणी ही हैं, शत्रु नहीं, किन्तु वे भारतसे अनुचित लाभ उठा रहे हैं, भारतके रहनेवाले अकाल-दुष्कालादि भोग रहे हैं। वे अन्नादि ले जाकर मौज कर रहे हैं। हम लोगोंको उनसे द्वेष होगा ही। जितने प्राणी निकटतम हैं, उन्हींका लाभ मुख्यतया हम लोगोंका कर्तव्य

होगा। इसलिए 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' यह अटल सिद्धान्त मानना ही पड़ता है। जिसे हम लोग परोपकार निष्काम कर्म समझ कर करते हैं, वह भी वास्तवमें अपने लिए है, चाहे यश-कामना हो चाहे धर्म-कामना हो। यदि कुछ भी कामका उदय कर्त्ताके अन्तःकरण पर नहीं हो तो शास्त्र कहते हैं—ऐसे निष्काम कर्मसे अन्तःकरणशुद्धि अवश्यंभावी है। फिर भगवत्प्राप्ति अति रुचिकर है।

मेरी प्रार्थना है आप सत्यके अन्वेषक हैं, ऐसा लिख भी रहे हैं। मेरे कथनके जितने अंश आपको ठीक जँचे, ठीक लिखिए। जो न जँचे, उन पर विचार करिए। 'यज्ञ करके अन्न और घी को जलाना यह बड़ा पाप है' यह किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह अनजानमें लिख गया समझें, तो यथोचित प्रतीकार अवश्य कीजिए। शुभम्।

आपका

गौरीशङ्कर गोयनका

[पत्र नं० ४]

कलकत्ता १२ मई १९४४

प्रिय गोयनकाजी,

आपका दूसरा पत्र मिला। आपकी भाषा, आपका तर्क, आपके विचार मुझसे इतने भिन्न हैं कि आप मुझे "सन्मार्ग" पर लानेका प्रयत्न छोड़ दें और निकम्मा मानकर संतोष करें। मैं क्या उत्तर दूँ। मुझे तो लगता है, जैसे कोई मनुष्य दिनमें बैठा हो सूर्य तपता हो, तब यह कहे कि "तुम कैसे प्रमाणित करते हो सूर्य तप रहा है। शास्त्र तो देखो"

पर यह भी संभव है, मैं अविवेकसे बातें कर रहा हूँ, पर भावना शुद्ध है तो ईश्वर पर भरोसा रखिए कि मुझे विवेक मिलेगा और आप तो यज्ञ कर चुके हैं इसलिए आप मेरे लिए यह भी प्रार्थना करें कि मुझे ईश्वर विवेक दे। कमसे-कम इस दर्खास्तको आप स्वीकार ही करेंगे। इसमें मेरा तो भला ही है।

विनीत

घनश्यामदास

[पत्र नं० ५]

काशी १६--६--४४

प्रिय विडलाजी, सप्रेम हरिस्मरण !

पत्र आपका प्राप्त हुआ, आपके इस पत्रने तो मेरे हृदयके ऊपर अधिकार कर लिया। अहो ! ईश्वरका विश्वास आपको है, फिर आप निकम्मे कैसे ? विचारो, आपके सभी प्रयत्न सफल हैं—

"सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्"।

मेरे आपमें चाहे जितना भेद हो, पर जब ध्येय एक है, तब किसी-न किसी दिन एक स्थानपर अवश्य पहुँचेंगे। आपका सूर्यका दृष्टान्त सर्वथा ठीक है, किन्तु निशीथमें बैठे हुए कोई सचमुच मध्याह्न समझने लगें, तब तो बताना ही पड़ेगा। एक प्रार्थना है, आप आध घण्टा मुझे भी प्रदान कीजिये। किसी निस्पृही मर्मज्ञ विद्वान्के समीप जाकर (उसको अपने यहाँ बुलाकर नहीं) 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' इस भगवद्वाक्यके

अनुसार श्रवण कीजिये, केवल १ वर्षके लिये आध घण्टा माँगता हूँ, फिर आपको लाभ प्रतीत न हो तो छोड़ दीजिये।

आपकी दरखास्तने मुझे सन्तुष्ट कर दिया।

आपका

गौरीशङ्कर गोयनका

[पत्र नं० ६]

कलकत्ता २०–५–१९४४

प्रिय गोयनकाजी,

आपका पत्र मिला। मर्मज्ञ विद्वानोंसे तो काफी लोगोंसे मेरा सम्पर्क है, जैसे सर राधाकृष्णन्, डॉ भगवान्दासजी वगैरह। सन्त महात्माओंसे मेरा सम्पर्क गाँधीजी ही तक सीमित है। मेरा खयाल है कि ये काफी हैं, "एक हि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय"। आप तो बस मेरे लिए प्रार्थना करते जाइये। इसीसे काम चल जायगा। फिर कभी मिलेंगे तब बातें करेंगे। अच्छा हुआ पत्रसे ही आपका समागम तो हुआ। मैं एक दो रोजमें बम्बई जा रहा हूँ।

आपका

घनश्यामदास

[पत्र नं० ७]

काशी २५–५–१९४४

प्रिय बिडलाजी, सप्रेम हरिस्मरण।

पत्र आपका प्राप्त हुआ आपने तीन महानुभावोंका नाम निर्देश

किया सो इन लोगोंका तो कहना ही क्या है। किन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ इन लोगोंने संस्कृत पढ़नेकी रीतिसे संस्कृतका अध्ययन नहीं किया। इन लोगोंका मुख्य परिश्रम अंग्रेजी अध्ययनमें है। जिन महानुभावोंने संस्कृतकी रीतिसे परिश्रम किया है, वे ही संस्कृत ग्रन्थोंके मर्मज्ञ हो सकते है, अच्छा, जैसे आपकी श्रद्धा। दूसरी बात यह है कि मेरे आपके पत्र-व्यवहारको पत्रोंमें प्रकाशित करनेकी अनुमति कई लोग माँग रहे है, क्या आप पसन्द करेंगे?

भवदीय
गौरीशङ्करगोयनका

[पत्र नं० ८]

बम्बई १–६–४४

प्रिय गोयनकाजी,

आपका पत्र मिला। निजी पत्रोंको अखबारोंमें देना यह कोई अच्छी चीज़ नहीं है। पर इसका निर्णय आप ही करें। आपके और मेरे पत्रकी नकल मैंने श्रीभगवान्दासजीके पास तो भेजी थी, प्रकाशनके लिए नहीं सिर्फ उनके विचार जाननेके लिए। और शायद इस सम्बन्धमें वे कुछ लिखेंगे भी।

आशा है आप अच्छे होंगे।

आपका
घनश्यामदास

[पत्र नं० ९]

आ० कृ० २—२००१

प्रिय बिडलाजी, सप्रेम हरिस्मरण !

पत्र आपका १।६।४४ का लिखा प्राप्त हुआ। पूज्य श्रीभगवान्-दासजीको आपने पत्रोंकी नकल भेजी, सो ठीक है। कृपया उनका उत्तर आने पर, यदि कोई हर्ज न हो तो, प्रतिलिपी मेरी जानकारीके लिए भेजिएगा।

एक प्रश्न उनसे और भी कर सकते हैं। अभी हालमें यहाँ एक रुद्राभिषेक श्रीकेदारेश्वरमें हुआ है—अखण्ड रुद्राभिषेक अहर्निश अखण्ड दुग्धधारा द्वारा भगवान् केदारेश्वरका पूजन हुआ है। दो-दो घण्टेकी पारीसे लगभग २४० वैदिक ब्राह्मणोंने वेदघोषके साथ इस कार्यको किया है। शुद्ध गोदुग्ध बड़े परिश्रमसे प्राप्त हुआ है। आपके तर्कके अनुसार जब बच्चोंको भी दुग्ध मिलता ही नहीं है, तब इस तरह दुग्ध बहाया जाना क्या धर्म है ? फिर यह पूजन निर्गुण, निर्विकार, अखण्ड, अव्यय, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य ब्रह्मका हुआ अथवा नित्यतृप्त, आप्तकाम, आनन्दमय भगवान्का हुआ ? प्रत्यक्ष देखनेमें तो पाषाण-खण्ड पर दुग्ध गिर रहा था और जलाभिषेक भी साथ २ था। यात्रिगण भी जलादि अर्पण करते थे, अतः वह जलके साथ बहकर नालीमें जाता था, किसीके हाथ भी नहीं लगता था—यह पुण्य हुआ क्या ?

आपका

गौरीशङ्कर गोयनका

[पत्र नं० १०]

बम्बई १२–६–४४

प्रिय गोयनकाजी,

आपका पत्र मैं अवश्य भगवान्दासजीको भेज दूँगा। और अगर उनका आया, तो वह भी भेज दूँगा। मेरे विचारमें तो दूधको बहा देना, यह अवश्य ही अविवेक है, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं, दूधके अधिकारी पहले बच्चे हैं। और भगवान् तो भावनासे तृप्त होते हैं, उनको दूधकी आवश्यकता ही क्या है?

आपका

घनश्यामदास

अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय

काशी।